श्री वीतरागाय नमः

शान्तिपथ

(समयपाहुड, सामायिक पाठ)

आदि का संकलन

★

रचयिता—

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य—आदि

★

संग्राहक—

श्री १०५ क्षु० चिदानंदजी महाराज

★

प्रकाशक—

मंत्री—अ० भा० केन्द्रीय श्री दि० जैन महासमिति

देहली

★

प्रथमबार	ज्येष्ठ शुक्ला ५	मूल्य
२०००	वीर सं० २४७७ वि० २००८	स्वाध्याय

परिचय

★

जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का निजी गुण है उसी प्रकार सुख भी आत्मा का ही एक विशेष गुण है, आत्मा के सिवाय अन्य किसी भी अचेतन द्रव्य से न तो उसका उदय होता है और न वह किसी जड़ द्रव्य में पाया जाता है। सांसारिक सुख (जिसको कि 'सुखाभास' कहते हैं) भी भोज्य, भोग्य, उपभोग्य पदार्थों से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में बात ऐसी है नहीं। जो मीठे फल स्वस्थ मनुष्य को स्वादिष्ट लगते हैं यानी उन फलों से वह सुख का अनुभव करता है यदि वे फल सचमुच में सुखदाता हों तो ज्वर हो जाने पर भी उनसे सुखदायक स्वाद मिलना चाहिये किन्तु ऐसा न होकर रुग्ण दशा में मीठे भी फल कड़वे लगते हैं।

धन सम्पत्ति चलचित्र (सिनेमा) आदि मनुष्य को सुख-दायक प्रतीत होते हैं किन्तु पुत्र-स्त्री-मित्र के वियोग के समय वे ही पदार्थ दुखदायक मालूम पड़ते हैं। ये बातें बतलाती हैं कि सुख किसी अन्य पदार्थ से नहीं मिला करता उसका स्रोत आत्मा में ही विद्यमान है। आत्मा जिस समय संसार से विरत होकर स्व-उन्मुख होता है उस समय आत्मा का वह सुखस्रोत बहने लगता है और आत्मा अपने आप को सुखी, निराकुल, शान्त अनुभव करने लगता है।

जिस समय इष्ट-वियोग, अनिष्टसंयोग, शारीरिक वेदना, आदि निमित्त मिलने पर आत्मा में उद्वेग रूप परिणमन होता है उस समय आत्मा का वह सुखस्रोत विपरीत धारा में बहने लगता है तब आत्मा दुःख अनुभव करने लगता है।

इस कारण आत्मा के सुखस्रोत का मुख खुला रखने के लिये यह आवश्यक है कि मन की विचार-धारा संसार, शरीर, विषयभोग तथा आत्मा के यथार्थ स्वरूप के परिचायक स्थल पर बहती रहे।

इसके लिये सुन्दर आध्यात्मिक पद्य परमउपयोगी रहते हैं। इसी बात को लक्ष्य में रख कर भिन्न भिन्न स्मरणीय आचार्यों, कवियों के रचे हुए पद्यग्रन्थों के संकलन से प्रस्तुत पुस्तक का कलेवर तयार किया गया है। यह प्रशंसनीय प्रयास श्री १०५ क्षु० पूर्णसागरजी ने किया है अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। जिन द्रव्यदाताओं ने इस पुस्तक के प्रकाशन में अपने द्रव्य का सदुपयोग किया है वे भी प्रशंसा के पात्र हैं।

पाठकों को इस पुस्तक का प्रतिदिन बड़े प्रेमसे पाठ करना चाहिये जिससे उनके चित्त पर आर्त रौद्रध्यान की छाया न पड़ने पावे।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मुखपृष्ठ तथा विषयसूची, परिचय, आर्थिक अवलम्बन वाले पृष्ठ हमारे यहां (अकलंक प्रेस में) छपे हैं शेष सब मैटर त्यागी प्रेस, देहली में छपा है। प्रमादवश उस मैटर में प्रूफ-संशोधन की अशुद्धियां रह गई हैं।

—अजितकुमार जैन शास्त्री, देहली।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	५	बसूं	बसैं
१	११	नमूं	नहूँ
२	१८	कार	कोर
४	७	मरैं	मारें
५	१	थिती	थिति
५	६	भोगेव	भोगवे
५	६	दुर्व्यसन	दुर्व्यसनी
५	११	स्वरथ	स्वारथ
६	१७	भूटै	लूटै
७	१०	कानन सुनतन	कान न सुनत न
८	३	लुटे	लूटे
८	१२	आत	अति
९	१५ वीं	(पंक्ति छूट गई है)	फिर जगमें किससे मोह कीजे, कौन वस्तु थिर कहिये।
१२	४	सातव	सातवें
१२	१०	निन्न	निन्द
१४	८	कारण	करण
३१	६	सम्यग्दर्शन	सम्यग्दर्शन
३१	१३	द्रूप	चिद्रूप
३४	२	सम्याग्दृष्टि	सम्यग्दृष्टि
४७	३	वि रो	विचारो
५०	१७	मधी	मधी

दूसरा प्रकरण (दशलक्षण धर्म)

६	५	द्रुष	द्वेष
१५	३	लक्षण	लत्तण
१५	५	यह यह	यह
२५	८	अघश	अघ
२६	५	नुसार	अनुसार
२६	२०	भाड़े	भांड
२७	६	गोटी	लंगोटी

समयपाहुड

११	१४	अहंमिको	अहंमिकको
१३	१	विधि	विविध
१५	१०	"उस सेनामें जो वास्तवमें एक ही राजा निकला"	इतना वाक्य दुबारा छपा है
१६	१	(रूप रसादि जीव का स्वरूप)	(रूपरसादि जीव का स्वरूप नहीं)
१६	१८	णो ठिदिबंधट्ठा- ट्ठाणा	णो ठिदिबंधट्ठाणा
१६	१६	संजमलद्धाठाणा	संजमलद्धिठाणा
१८	४	लुटता	लूटता
१८	५	लुटते	लूटते

आर्थिक अवलम्बन

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन निम्न लिखित आर्थिक सहायता से हुआ है।

१०४८) अ० भा० केन्द्रीय श्री दि० जैन महासमिति, देहली।

२००) ला० वंशीधर मोहनलालजी जैन गोलालारे वैदवाड़ा, देहली। (२६–८–५०)

५१) श्रीमती खिल्लोदेवी, धर्मपत्नी ला० श्रीदयालजी कूचा बुलाकी बेगम, देहली। १४–६–५०

१०१) श्रीमती गुणमालादेवी धर्मपत्नी ला० सुमतप्रसादजी जैन, सराफबाजार, सहारनपुर ता० ३१–१०–५०

१५००)

शान्तिपथ

विषयसूची

प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण

तृतीय प्रकरण

आराधनापाठ—

मैं देव नित अरहंत चाहूं, सिद्ध का सुमिरन करुं ।
मैं सूरगुरु मुनि तीनपद, मैं साधु पद हृदय धरुं ।।
मैं धर्म करुणा मय जु चाहूं, जहां हिसा रंच ना ।
मैं शास्त्र ज्ञान विराग चाहूं जासु मैं परपंचना ।।१।।
मैं चौवीस श्री जिन देव चाहूं, और देव न मन बसूं ।
जिन वीस क्षेत्र विदेह चाहूं, वंदितैं पातक नशैं ।।
गिरनार शिखर संमेद चाहूं, चंपापुरी पावापुरी ।
कैलाश श्री जिनधाम चाहूं, भजत भाजैं भ्रमजुरी ।।२।।
नव तत्व का सरधान चाहूं, और तत्व न मन धरौं ।
षटद्रव्य गुणपर्याय चाहूं ठीक तासौं भय हरौं ।।
पूजा परम जिनराज चाहूं, और देव नमूं सदा ।
तिहुंकाल की मैं जाप चाहूं, पाप नहिं लागै कदा ।।३।।
सम्यक्त दर्शन ज्ञान चारित्र, सदा चाहूं भाव सौं ।
दश लक्षणी मैं धर्म चाहूं, महाहर्ष उछाव सौं ।।

सोलह जु कारण दुख निवारण, सदा चाहूं प्रीति सौं।
मैं नित अठाई पर्व चाहूं, महा मंगल रीति सौं ॥४॥
मैं देव चारों सदा चाहूं, आदि अंत निवाह सौं।
पाये धरम के चार चाहूं, अधिक चित्त उछाह सौं।
मैं दान चारों सदा चाहूं, भुवन वसि लाहो लहूं।
आराधना मैं चार चाहूं, अन्त में जेई गहूं ॥५॥
भावना बारह सदा भाऊं, भाव निरमल होत हैं।
मैं व्रतजु बारह सदा चाहूं, त्याग भाव उद्योत हैं।
प्रतिमा दिगम्बर सदा चाहूं, ध्यान आसन सोहना।
वसु कर्म ते मैं छुटा चाहूं, शिव लहूं जहां मोह ना ॥६॥
मैं साधुजन को संघ चाहूं, प्रीति तिनही सौं करौं।
मैं पर्व के उपवास चाहूं, आरम्भ मैं सब परिहरूं ॥
इस दुःखम पंचम काल मांहीं, सुकुल श्रावक मैं लहौ।
अरु महाव्रत धरि सकौं नाहीं, निबल तन मैंने गहौ ॥७॥
आराधना उत्तम सदा चाहूं, सुनो श्री जिन राय जी।
तुम कृपा नाथ अनाथ द्यानत, दया करना नाथजी ॥
वसु कर्म नाश विकाश ज्ञान,—प्रकाशमोकों कीजिये।
करि सुसंगति समाधि मरन, सुभक्ति चरनन दीजिये ॥८॥

नमः सिद्धेभ्यः

संसार दुःख दर्पण

दोहा

वीर जिनेश्वर पद नमूं, जग जीवन सुखदाय ।

जोगीरासा

कहूं दशा संसार की सुनो भविक मनलाय ॥१॥
या जग में नहीं दीखत कोई, जीव सुखी संसारी ।
दुखिया सब जग जीव दिखाई, देत अनेक प्रकारी ॥
कबहूं जियने जाय नरक गति, सागर लों थितिपाई ।
मारन छेदन ताड़न पीडन, कष्ट लहे अधिकाई ॥२॥
छूवत भूमि हुई इमि पीड़ा, विछू सहस डसाना ।
भूखलगी तिहूं जगका खाऊं, अन्न मिला नही दाँना ॥
होय तृषातुर चाह्यो सिंधु जल, बूंद एक नहीं पाई ।
रक्तराध से पूरित नदियां, बहती हैं दुखदाई ॥३॥
असिसमतीक्ष्ण पत्र वृक्ष के, जो तनचीर विदारें ।
टूटे फल ज्यों पत्थर बरसैं, खंड २ कर डारें ॥
गर्मी सर्दी कष्ट दायनी, है अंधियार भयाना ।
पृथ्वी की रज अति दुर्गन्धा, व्याकुल करत महाना ॥४॥

कष्ट नरक के जाय न बरने जो बहुकाल सहे हैं ।
पशु गति पाई फिर दुखदाई, कष्ट अनेक लहेहैं ॥
भार बहन अरु छेदन भेदन, भूख प्यास दुखकारी ।
जलचर नभचर थलचर पशु को, मारत आन शिकारी ॥५॥
पिंजड़े पड़कर खूंटे बंधकर, बंधन के दुख पावैं ।
चाबुक पैनी डंडा लाठी, मार सभी से खावैं ॥
पापी हृदयधार दुष्टता, पंचेंद्री पशु मारैं ।
देवीपर बलिदान नाम से, असिके घाट उतारैं ॥६॥
है पशुगति अतिकष्ट दायनी, पाय लहैं दुखप्रानी ।
जो भोगे दुख वह जिय जाने, या प्रभु केवल ज्ञानी ॥
कुछ शुभ भावन कर या जियने सुरगति सुन्दर पाई ।
पर इच्छित सुख नाहीं पायो, दुख पाए अधिकाई ॥७॥
रंकभयो लख सम्पत परकी, झुर झुर बदन झिरायो ।
देख २ सुख भोग पराये, कर चिन्ता दुख पायो ॥
बहुदुखमानाचिंता कीनी, रुदन कियो दुखदाई ।
जब मृत्यु से छ मास पहिले, गलमाला मुरझाई ॥८॥

हाहा यह सुख भोग छुटैंगे, अब होगी थिती पूरी ।
इच्छा मनकी पूरी नाहीं, रहगई हाय अधूरी ॥
कोई पुण्यउदय जब आयो, तब मानुष गति पाई ।
कर्म उदय कर या गति मांहीं, कष्ट अनेक लहाई ॥६॥

पुत्र बिना नर दुखिया कोई, चिंतत मनमे ऐसे ।
ममधन सम्पति कौन भोगेव, नाम चलेगा कैसे ॥
होय पुत्र मर जाय दुखी तब, यह कह रुदन मचावै ।
जो ना होता तो अच्छा था, कष्ट सहा नहीं जावै ॥१०॥

जीयो पुत्र भयो दुर्व्यसन धन सम्पत्ति सब खोयो ।
अब दुखमानत मात पिता मब, कुलका नाम डबोयो ॥
मित्र स्वार्थी स्वारथ साधन कर आंखें दिखलावैं ।
बैरी बनकर धन यश प्राणन, का गाहक बन जावे ॥११॥

कुलटानारी कलह कारिणी, कर्कसवचन उचारै ।
दोऊ कुलकी लाज गवांवे, पतिको बिष दे मारे ॥
वेश्यागामी पर तिय लंपट, ज्वारी मांसाहारी ।
मद मत वाले पति से दुखिया, है पतिव्रत्ता नारी ॥१२॥

पुत्र पिता पर अरि सम टूटे, चाहै यह मर जावै।
पिता पुत्र पर रुष्ट होय कर, घरसे दूर करावै ॥
भाई भाई लड़त स्वान सम, हैं प्राणन के लेवा।
धार कषाय उपाधि मचावैं, हैं दोऊ दुःखदेवा ॥१३॥
विधवा नारी पति बिन दुखिया, बिन नारी पतिकोई ॥
इक बाला का वृद्ध पती हो, दुखित अति मन होई
इष्ठ मित्रका होय विछोहा, शोक करत तन छीजे।
बाल अनाथ न कोउ सहाई, किसका आश्रय लीजे ॥१४॥
कुल कुटुम्बके लोग स्वार्थी, स्वारथ वस दुख देवैं।
दाव लगे पर धन संपति क्या, प्राणन तक हर लेवें ॥
नृप अन्यायी सब धन छीने, अत्याचार करै है।
बन्दी गृह में डार मार कर, सम्पति सर्व हरै है ॥ १५ ॥
धर्म नाम पर लड़त अयाने धन लूटैं अघतापी ।
मार छेदकर प्राण लेत हर, रक्त बहावै पापी ॥
न्यायासन पर बैठ करै अन्याय, घूस कोई लेवै।
दोषीको निर्दोष बतावै, दण्ड सुजन को देवै ॥ १६ ॥
मारै भूटै चोर लुटेरे, स्याल व्याल डरपावै।

नीर डुबावै अगनि जलावै, सिंहादिक हन खावै ॥
मरी रोग दुर्भिक्ष सतावै, बिजुरी तनको जारै ।
काल भयानक नित डरपावत, आन अचानक मारै ॥१७॥
क्रोध मान माया अरु तृष्णा, या वश हो अघ कीनो ।
मार किया अपमान कपट कर, धन संपति सब छीने ॥
परधन धरनी तिय को हर कर, संकट आप उपायो ।
कारागृह में कष्ट उठाये, कुल को लांछन लायो ॥१८॥
पायो निर्बल तन अति रोगी, या विडरूप भयाना ।
अंगहीन लंगड़ा या लूला, हुआ अंध या काना ॥
कानन सुनतन बोलत मुख से, देखत नाहीं आपा ।
कुष्ट रोग से गलित भयो तन, तब दारुण दुख व्यापा ॥
वृद्धावस्था अर्धमृतक सम, पाय महा दुख मानै ।
जाहि मृत्यु से जग भय खावै, ताहि निकट अब जानै ॥
कोइ भिखारी दर २ याचत, दुर दुर वचन कहावै ।
रूखे सूखे झूठे टुकड़े, पाकर भूख मिटावै ॥२०॥
बिन धन निर्धन जन, निज मन में, कष्ट अरु दुख मानै ।
देख धनीजन को दुख पावै, ईर्षादिक रुष ठानै ॥

धनी पुरुष मन तोष न रंचक, तृष्णावश दुख पावै ।
लोभ पाप का बाप धरै मन, या से कष्ट उठावै ॥२१॥
धन को लूटैं चोर लुटे, अगनि जल नस जावै ।
जब देखो धनवान पुरुष को, सोच २ मरजावै ॥
काहू के व्यवहार वणिज में, टोटा आय गयो है ।
टोटा खोटा दुख का कारण, यासे दुखित भयो है ॥२२॥
तृष्णा के वश धनपति भूपति, नरपति हैं सब कोई ।
संतोषामृत पान कियो नहि, फिर कैसे सुख होई ॥
इन्द्रिय पांचों कर विषयन रत, बहु विधि नाच नचावें ।
मन की गति अति चंचलपन को, लेय विषय में धावै ॥
रूप रंग रस गंध राग पर, जग जियमन ललचावैं ।
हो अशक्त दुखित अति होवे, अपने प्राण गमावै ॥२३॥
विष सम विषय विनासैं धन बल, यश बुधि अरु शुचिताई ।
प्राण जांय विष खाय विषय पर, भव भव में दुःख दाई ॥२४॥
जो माने सुख या जग मांही विषयादिक विष खा के ।
वह नर स्वान समान सुखी हूं सूखा हाड़ चबा के ॥
है असार संसार दुखों का, द्वार विपति का घर है ।

क्षण क्षण दुख की हो बढ़वारी, आधि व्याधि का डर है ॥२५॥
मोही मोह में अंध होय कर, जग वस्तु थिर माने ।
मेरा घर दर धन जन धरनी बंधु मित्र निज जाने ॥
हाड़ मांस अरु रक्त राध की, देह अशुचिघिणकारी ।
रूप रंगपर वाके मोहित, होत मनुष अविचारी ॥२६॥
जानत नाहीं रूपढरै यह, ज्यों तरूवर की छाया ।
बालू भींति समान नशै है कंचन जैसी काया ॥
स्वारथ के सब सगे संगाती इष्ट मित्र जन प्यारे ।
निज स्वारथ को साधन कर के, पल में होवें न्यारे ॥२७॥
और किसी की बात कहा यह, देह संग नहिं जावै ।
जाको पोखै नित संतोखै, बहु विधि चैन करावै ॥
या संसार महावन भीतर, सार वस्तु नहिं कोई ।
कौन पदारथ ऐसा कहिये, नाश न जाको होई ॥२८॥
जल बुद बुद वत जीवन जग में, आश नहीं इक दिन की ।
काल बली मुख खोलत जोहै, बाट एक पलछिन की ॥
ऐसे जग जंजाल आल में, फँस कर बहु दुख लहिये ॥२६॥
कूए भांग पड़ी को खाकर सब ने सुध बुध खोई ।

उत्तम नरभव क्षेत्र पायकर, बेल न सुख की बोई ॥
धर्म साध पर हित नहिं कीना, योंही जन्म गँवाया ।
मूढ़ पुरुश ने रत्न अमोलक, सागर बीच डुबाया ॥२०॥
सुख चाहत भी सुख नहिं पावत दुख पावै संसारी ।
या का कारण मोह अज्ञता, अरु मिथ्यात दुखारी ॥
जो चाहे सुख जिय संसारी, आपा पर को जानै ।
हित अन हित अरु पाप पुन्य का, सभी भेद पहिचानै ॥२१॥
विश्व प्रेम हृदय विच धारै, पर उपकारी होवै ।
पापपंक आतमपर लागो, संजम जल से धोवै ॥
दर्शन ज्ञान सुचारित्र पालै, इच्छा भाव घटावै ।
पंच महाव्रत धारण कर के, जग से मोह हटावै ॥२२॥
यह जगवस्तु समस्त विनाशैं, इन से ममता त्यागै ।
आत्म चिंतवन कर निज मन मैं, आतम हित में लागै ॥
मैं आतम परमातम चिद्, आनन्द रूप सुख रूपी ।
अजर अमर गुण ज्ञान शांतिमय, हूँ आनन्द स्वरूपी ॥२३॥
यह तन रूप स्वरूप न मेरो, मैं चेतन अविनाशी ।
ज्ञाता, दृष्टा, सुख, अनंत मय, हूँ शिवपुर का वासी ॥

मेरी केवल ज्ञान ज्योति से, भरम तिमर नश जावै ।
मैं ऐसा शुद्धात्म चिदानन्द, जब यह जीव लखावै ॥३४॥
तब ही कर्म कलंक विनाशै, जीव अमर पद पावै ।
मिलै निराकुल सुख अविनाशी, परमातम कहलावै ॥
आवै कब वह शुभ दिन जब मम, ज्ञान ज्योति जग जावै ।
सत्य अमर आतम को पाकर, मम जियरा सुख पावै ॥३५॥

दोहा

मेरी है यह भावना, सुख पावै संसार ।
मिले निराकुल पद मुझे, हो आनन्द अपार ॥३६॥

नरक दुःख कथन । पार्श्व पुराण से उद्धृत—

दोहा

जनम थान सब नरक में अंध अधो मुख जौन ।
घंटाकार घिनावनी, दुसहवास दुखभौन ॥१॥
तिन में उपजैं नार की, तलशिर ऊपर पांव ।
विषम वज्र कंटक मई, परैं भूमि पर आय ॥२॥
जो विषैल बीछू सहस, लगैं देह दुख होय ।

नरक धराके परशतें सरस वेदना सोय ॥३॥
तहां परत पाखान अति, हा हा ! करते एम ।
ऊँचे उछलें नार की तपे तवा तिल जेम ॥४॥

सोरठा

नरक सातवें माँहिं उछलत योजन पांच सौ ।
और जिनागम मांहि, यथा योग सब जानियों ॥५॥

दोहा

फेरि आन भूधर परें, और कहां उठ जाहिं ।
छिन्न भिन्न तन अति दुखित, लोट २ बिलखाहिं ॥६॥
सब दिशि देखि अपूर्व थल, चकित चित भयवान ।
मन सोचै मैं कौन हूँ. परो कहां मैं आन ॥ ७ ॥
कौन भयानक भूमि यह, सब दुख थानक निन्न ।
रुद्र रूपये कौन हैं, निठुर नारकी वृन्द ॥८॥
काले वरण कराल मुख, गुंजा लोचन धार ।
हुण्डक डील डरावने, करें मार ही मार ॥९॥
सुजन न कोई दिठ परे, शरन न सेवक कोय ।

ह्यां सो कुछ सूझे नहीं, जासों रंच सुख होय ॥१०॥
होत विभंगा अवधि तव, निज पर को दुखकार ।
नरक कूप में आप को परो जान निरधार ॥ ११॥
पूरव पाप कलाप सब, आप जाय कर लेय ।
तब विलाप की ताप तप, पश्चाताप करेय ॥ १२ ॥
मैं मानुष पर्याय थिर, धन यौवन मद लीन ।
अधम काज ऐसे किये, नरक वास जिन दीन ॥१३॥
सरसों सम सुख हेत तब, भयो लंपटी जान ।
ताही को अब फल लगो, यह दुख मेरु समान ॥१४॥
कंद—मूल—मद – मांस—मधु, और अभक्ष अनेक ।
अक्षण वश भक्षण किये अटक न मानी एक ॥१५॥
जल–थल–नभ–चारी विविध, बिलवासी बहु जीव ।
मैं पापी अपराध बिन, मारे दीन अतीव ॥१६॥
नगर दाह कीनोनिठुर, गांव जलाये जान ।
अटवी में दीनी अगिनि, हिंसाकर सुख मान ॥१७॥
अपने इंद्री लोभ को, बोल्यो मृषा मलीन ।
कलपित ग्रंथ बनाय के बहकाये बहु दीन ॥१८॥

दाव – घात परपंचसों, पर लक्ष्मी हरि लीन ।
छल बल हठ थल द्रव्य बल, परि बनिता वश कीन ॥१६॥
बढ़ी परिग्रह पोट शिर, घटी न घटकी चाह ।
ज्यों ईंधन के योग तैं, अगिनि करै अति दाह ॥२०॥
बिन छानो पानी पियो, निशिभुंज्यो अविचार ।
देव द्रव्य खायो सही, रुद्रध्यान उरधार ॥२१॥
कीनी सेवकुदेवकी, कुगुरन को गुरु मानि ।
तिन ही के उपदेश सौं, पशु होमें हित जानि ॥२२॥
दियो न उत्तम दान मैं, लियो न संयमभार ।
पियो मूढ़ मिथ्यात मद, कियो न तप जगसार ॥२३॥
जो धरमी जन दया करि, दीनी सीख निहोर ।
मैं तिन सों रुष करि अधम, भाषे वचन कठोर ॥२४॥
करी कमाई पूर्व भव, सो आई मुझ तीर ।
हा ! हा ! अब कैसे धरों, नरक धरा में धीर ॥२५
दुर्लभनर भवपायकें, कोई पुरुष प्रधान ॥
तप कर साधैं स्वर्ग शिव, मैं अभाग यह थान ॥२६॥
पूरव संतन यों कही, करनी चालै लार ॥

सो अब आंखिन देखिये, तब न करी निरधार ॥२७॥
जिस कुटुम्बके हेत मैं, कीने बहुविध पाप ।
ते सब साथी बिछुरे, परो नरकमें आप ॥२८॥

मेरी लक्ष्मी खान कूं, साथी हुए अनेक ।
अब इस विपति विलापमें, कोउ न दीखे एक ॥२९॥

सारस सरवर तजि गये, सूखो नीर निराट ।
फल बिन वृक्ष विलोकिके, पक्षी लागे बाट ॥३०॥

पंच कारण पोषण अरथ, अनरथ किये अपार ।
ते रिपु तो न्यारे भये, मोह नरक में डार ॥३१॥

तब तिल भर दुख सहनको, हुओ अधीरज भाव ।
अब यह कैसे दुसह दुख, भरिहों दीरघ आव ॥३२॥

अब बैरीके बस परो, कहा करों कित जाऊं ।
सुनै कौन पूछौ किसे, शरण कौन इस ठाऊं ॥३३॥

यहां कछू दुख हतनको युक्ति उपाय न मूर ।
थितिबिन विपति समुद्र यह, कब तिरिहों तट दूर ॥३४॥

ऐसी चिन्ता करत तहं, बढ़े बेदना एम
घीत्र तेल के योगतें, पावक प्रजुले जेम ॥३५॥

सोरठा

इम विधि पूरब पाप, प्रथम नारकी सुधि करैं।
दुख उपजावन जाप, होय बिभंगा अवधितें ॥३६॥

दोहा

तब ही नारकि निर्दई, नयो नारकी देख।
धाय धाय मारन उठैं, महादुष्ट दुरभेष ॥३७॥
सब क्रोधी कलही सकल, सबके नेत्र फुलिंग।
दुख देने को अति निपुण, निठुर नपुंसक लिंग ॥३८॥
कुन्त कृपाण कमान सर, सकती मुगदर दण्ड।
इत्यादिक आयुध विचध, लियो हाथ प्रचण्ड ॥३९॥
कहि कठोर दुरवचन बहु, तिल, तिल खण्डे काय।
सो तबही तत्काल तन, पारे वत मिल जाय ॥४०॥
कांटे कर छेदैं चरन, मेदैं मर्म बिदार।
अस्थिजाल चूरन करैं, कुचलें चाम उतार ॥४२॥

चीरैं करवत काठ ज्यों, फारैं पकरि कुठार ।
तोडैं अन्तर मालिका, अन्तर उदर विदार ॥ ४२ ॥
पेलैं कोल्हू मेलिकें, पीसें चक्की घाल ।
तावैं ताते तेलमें, दाहैं दहन प्रजाल ॥ ४३ ॥
पकरि पांय पटकें पुहमि, झपटि परस्पर लेहिं ।
कण्टक सेज सुवावहीं, शूली पर धरि देहिं ॥ ४४ ॥
घसैं सकण्टक रूखसों, वैतरणी ले जाहिं ।
घायल घेरि घसीटते, किंचित करुणा नाहिं ॥ ४५ ॥
कोई रक्त चुवात तन, विह्वल भाजैं ताम ।
परवत अन्तर जायकैं, बैठि करैं विश्राम ॥ ४६ ॥
तहां भयानक नारकी, धारि विक्रिया भेष ।
बाघ सिंह अहि रूपसों, दारें देह विशेष ॥ ४७ ॥
कोई करसों पांय गहि, गिरिसों देहिं गिराय ।
परैं आनि दुभूमिपर, खंड खंड हो जाय ॥ ४८ ॥
दुखसों कायर चित्तकर, ढूंढें शरन सहाय ।
वे अति निर्दय घातकी, यह अति दीन विलाय ॥ ४९ ॥
अब वेदन नीकी करैं, ऐसें करि विश्वास ।

सींचे खारे नीरसों, ज्यों अति उपजै त्रास ॥ ५० ॥
केई जकड़ जंजीरसों, खैंचि खम्भतैं बांधि ।
सुधि कराय अब मारिये, नाना आयुध साधि ॥ ५१ ॥
जिन उद्धत अभिमानसों, कीने परभव पाप ।
तपत लोह आसन विषैं, त्रास दिखावैं थाप ॥ ५२ ॥
ताती पुतली लोहकी, लाय लगावैं अङ्ग ।
प्रीति करी जिन पूर्व भव, पर कामिनके सङ्ग ॥ ५३ ॥
लोचन दोषी जानिकैं, लोचन लेहि निकाल ।
मदिरा पानी पुरुषकों, प्यावैं तांवौ गाल ॥ ५४ ॥
जिन अंगनसों अघ किये, तेई छेदे जाहि ।
पल भक्षणके पापतैं, तोड़ि तोड़ि तन खाहिं ॥ ५५ ॥
केई पूरव वैरकों, याद दिवावें नाम ।
कहि दुरवचन अनेक विध, करैं कोप संग्राम ॥ ५६ ॥
भये विक्रिया देहसों, बहुविधि आयुध जात ।
तिन हीं सों अति रिस भरे, करैं परस्पर घात ॥ ५७ ॥
शिथिल होय चिर युद्धतैं, दीन नारकी जाम ।
हिंसानन्दी असुर दुठ, आनि भिड़ावैं ताम ॥ ५८ ॥

सोरठा

तृतीय नरक परयंत, असुरादिक दुख देत हैं।
भाख्यो जैन सिद्धान्त, असुर गमन आगे नहीं ॥ ५६ ॥

दोहा

इस विधि नरक निवासमैं, चैन एकपल नाहिं।
तपैं निरन्तर नारकी, दुख - दावानल माहिं ॥ ६० ॥
मार मार सुनियें सदा, क्षेत्र महादुर्गंध ।
वहै बात असुहावनी, अशुभ क्षेत्र सम्बन्ध ॥ ६१ ॥
तीन लोकको नाज सब, जो भक्षण कर लेय।
तौ भी भूख न उपशमैं, कौन एक कण देय ॥ ६२ ॥
सागरके जलसों जहां, पीवत प्यास न जाय ।
लहै न पानी बूंद सम, दहै निरन्तर काय ॥ ६३ ॥
वात पित्त कफ जनित जे, रोगजात जावंत ।
तिन सबही को नरकमें, उदै कह्यो भगवंत ॥ ६४ ॥
कडुतुम्बी सो कडुक रस, करवतकी सी फांस ।
जिनकी मृतक मंजार सों, अधिक देह दुरवास ॥ ६५ ॥

योजन लाख प्रमाण जहँ, लोह पिंड गलजाय ।
ऐसी ही अति उष्णता, ऐसी शीत सुभाय ॥ ६६ ॥

अडिल्ल छन्द

पंकप्रभा परजंत उष्णता जिन कही ।
धूमप्रभामें शीत, उष्ण दोनों सही ॥
छटी सातमीं भूमिन केवल शीत है ।
ताकी उपमा नाहिं महाविपरीत है ॥ ६७ ॥

श्वान स्याल मंजारकी, परी कलेवर रास ।
मांस वसा अरु रुधिरकी, कादो जहां कुवास ॥ ६८ ॥
ठाम ठाम असुहावने, सेंवर तरुवर भूर ।
पैने दुख देने कठिन, कण्टक कलित करूर ॥ ६९ ॥
और जहां असिपत्र वन, भीम तरोवर खेत ।
जिनके दल तरवारसे, लगत घाव कर देत ॥ ७० ॥
वैतरनी सरिता समल, लोहित लहर भयान ।
बहै धार श्रोणित भरी, मांस कीच घिन थान ॥ ७१ ॥
पक्षी वायस गीधगण, लोह तुंडसे जेह ।

मरम विदारें दुख करें, चूटैं चहुं दिशि देह ॥ ७२ ॥
पंचेंद्री मनको महा, जे दुखदायक जोग ।
ते सब नरक निकेतमें, एक पिंड अमनोग ॥ ७३ ॥
कथा अपार कलेशकी, कहैं कहां लो कोय ।
कोटि जीभसों वरनिये; तबहु न पूरी होय ॥ ७४ ॥
सागर बंध प्रमाण थिति; क्षण क्षण तीक्षण त्रास ।
ये दुख देखे नारकी; परवश पर्यो निरास ॥ ७५ ॥
जैसी परवश वेदना; सहै जीव बहु भाय ।
स्ववश सहै जो अंश भी; तो भवदधि तिरजाय ॥ ७६ ॥

—:❀❀:—

श्री स्वानुभव दर्पण

निर्मल ध्यान लगायके, कर्म कलंक जलाय ।
भये सिद्ध परमात्मा, वन्दों मन वच काय ॥ १
चार घातिया घात विधि , लिये अनन्त चतुष्ट ।
तिन जिनवरकों प्रणमिके, करूं काव्य कुछ सुष्ट ॥ २
भव दुखसे डर मोक्ष हित, निज सम्बोध निमित्त ।
अष्टोत्तर शत रचत हों, दोहा कर दृढ़ चित्त ॥ ३

जीव काल संसार ये, कहे अनादि अनन्त।
गत मिथ्या श्रद्धान जिय, भ्रमे न सुक्खलहंत ॥ ४

जो चहुं गति दुखसे डरे, तो तज सब परभाव।
कर शुद्धातम चिन्तवन शिव सुख प्रीति उपाव ॥ ५

त्रिविधि आत्मा जानकरि, तजि बहिरातमभाव।
अन्तरात्मा होय कर, परमातमको ध्याव ॥ ६

मिथ्यादर्शन वस फंसे, अहंकार मम कार।
जिनवर बहिरातम कहे, सो भरमत संसार ॥ ७

निज परका अनुभव करे, पर तज ध्यावे आप।
अन्तरात्मा जीव सो, नाश करे त्रयताप ॥ ८

निर्मल निकल जिनेन्द्र शिव, सिद्ध विष्णु बुध सन्त।
परमातमके नाम जिन, भाषे एम अनन्त ॥ ९

अहंकार भवमें करे, तन धन जन ममकार।
सो बहिरातम भव भ्रमें, जिनवर कह्यो विचार ॥१०

देहादिक पुद्गल मई, सो जड़ है परजान।
ज्ञाता दृष्टा आप तू, चेतन निज पहिचान ॥११

आप आपने रूप को जाने सो शिव होय।

परमें अपनी कल्पना– करे भ्रमें जग सोय ॥१२

विन इच्छा शुचितप करे, लखे आप गुणआप ।
निश्चय पावे परम पद, फिर न तपे भव ताप ॥१३

बन्ध विभाव प्रसाद हो, शिव स्वभावसे जान ।
बन्ध मोक्ष परिणामसे, कारण और न आन ॥१४

स्वातमके जाने विना, करे पुण्य बहु दान ।
तदपि भ्रमें संसारमें, मुक्त न होय निदान ॥१५

आत्मज्ञान श्रद्धान ही, दाता शिव नहिं आन ।
द्विविध धर्म व्योहार पथ, निश्चिय आतमज्ञान ॥१६

गुणस्थान अरु मार्गणा उपादेय व्यवहार ।
निश्चय आतम ज्ञान ही, परमेष्ठी पदकार ॥१७

गेह कार्य यद्यपि करैं, तदपि स्वानुभव दक्ष ।
ध्यावें सदा जिनेशपद, होय मोक्ष प्रत्यक्ष ॥१८

जिन सुमिरो जिन चिंतवो, जिन ध्यावो पद सुद्ध ।
लहो परमपद क्षणिकमें, हो करके प्रति बुद्ध ॥१९

जिनवर अरु शुद्धात्म में, किंचित भेद न जान ।
येही कारण मोक्षके, ध्यावो श्रध्दा ठान ॥२०

जो जिनसो आतम लखो, निश्चय भेद न रंच।
यही सार सिद्धान्तका छोड़ो सब परपंच ॥२१

आतम परमातम विषैं, शक्ति व्यक्ति गुण भेद।
नातर उभय समान हैं, कर निश्चय तज खेद ॥२२

अगणित शुद्ध प्रदेशयुत, लोकाकाश प्रमाण।
सो शुद्धातम अनुभवो ध्याये हो कल्याण ॥२३

निश्चय लोक प्रमाण है, तनु प्रमाण व्यवहार।
ऐसैं आतम अनुभवै, सो पावै भवपार ॥२४

चौरासी लखयोनिमें, भ्रम्यो जु काल अनन्त।
सम्यक रत्नत्रय विना, लिया न भवका अन्त ॥२५

शुद्धातम हो शिव चहै, तो कर अनुभव आप।
स्वातम ध्याते होयगा, मुक्त मिटे सन्ताप ॥२६

जब तक आतमज्ञान नहिं, मिथ्या क्रियाकलाप।
भटको तीनों लोकमें, शिव सुख लहो न आप ॥२७

ध्यावन योग्य त्रिलोकमें, जिनसों आतमज्ञान।
निश्चयनय जिनवर कहै, यामें भ्रान्ति न ठान ॥२८

व्रत तप संयम मूल गुण, मूढकहैं शिव हेतु।

पर स्वातम अनुभव विना, लहै न शिव हित खेत ॥२६

जो शुद्धातम अनुभवै, व्रत संयम संयुक्त।
कहें जिनेश्वर जीवसों, निश्चय पावे मुक्त ॥३०

व्रत तप संयम शील पुन, क्रिया काण्ड मय होय।
शुध्दातम जानें विना, मोक्ष कदापि न होय ॥३१

लहै पुण्यसे स्वर्ग सुख, पड़े नरक करि पाप।
पुण्य पाप तज आपमें, रमै लहै शिव आप ॥३२

व्रत तप संयम शील जिय, शिव कारण व्यवहार।
निश्चय कारण मोक्षको, आतम अनुभव सार ॥ ३३

परख गहै निज भावको, त्याग करै परभाव।
सो शिव पावे जिन कहैं, वृथा जु अन्य उपाव ॥ ३४

सप्त तत्त्व षट् द्रव्य नव, अर्थ पंच है काय।
सो यथार्थ व्यवहार युत, ठीक करो मन लाय ॥ ३५

एक सचेतन जीव सब, और अचेतन जान।
सो चेतन ध्यावो सदा, लहो तुरत शिव थान ॥ ३६

जो शुद्धातम अनुभवै, त्याग उपाधि कुभाव।
शीघ्र मुक्त पद सो लहै, यों जिनवर दर्शाव ॥ ३७

जाने जीव अजीव जो, भेद विज्ञान विचार ।
कह्यो कहत जिन मुनि सदा, सो पावे भव पार ॥ ३८

चेतन ही सर्वज्ञ है, अन्य अजीव न कोय ।
कह्या कहत जिन मुनि यही, निश्चय जानो सोय ॥ ३९

किहि साधों अर्चों ठगों, करों वैर वा प्रीत ।
प्रगट गुप्त सबठां लखूँ, समगुण चेतन मीत ॥ ४०

तब तक भ्रमैं कुतीर्थ जिय, करै धूर्तता ढंग ।
जब तक सुगुरु मिलें नहीं, पड्यो कुगुरुके संग ॥ ४१

तीर्थ दिवालय देवता, देह दिवालय देव ।
जिनवाणी गुरु यों कह्यो, निश्चय जानो एव ॥ ४२

तन मन्दिरमें जीव जिन, मन्दिर मूर्ति न देव ।
सिद्ध बनें भिक्षहि भ्रमें, सन्मुख हांसी एव ॥ ४३

मूढ़ दिवालय देव ना, मूर्ति चित्र ना देव ।
तन मन्दिरमें देव जिय, ज्ञानी जाने भेव ॥ ४४

तीर्थ दिवालय देव जिन, यों भाषैं सब मूढ़ ।
तन मन्दिर जिन देव जिय, ज्ञानी जानें गूढ़ ॥ ४५

जन्म मरण रुजसे डरै, धर्म महौषधि पीव ।

अविनाशी तन ज्ञानमय,— पाय सुखी हो जीव ॥ ४६

शास्त्र पढ़ैं बांचैं सबै, मठमें लुंचैं केश ।
पिच्छि कमंडलके रखैं, ज्ञान न तो वृष लेश ॥ ४७

राग, द्वेष परिग्रह तजै, करै स्व-पर पहिचान ।
तो उपरोक्त क्रिया करैं, हो निश्चय निर्वान ॥ ४८

आयु गलै मन ना गलै, इच्छाशा न गलन्त ।
तृष्णा मोह सदा बढ़ै, यासैं भव भटकन्त ॥ ४६

ज्यों मन विषयों में रमें, त्यों हो आतम लीन ।
क्षण में शिव सम्पति वरै, क्यों भव भ्रमै नवीन ॥ ५०

मल घट सम अति मलिन तन, निर्मल आतम हंस ।
कर ऐसा श्रद्धान तू, नसै कर्मका वंस ॥ ५१

व्यवहारक धंधा फसैं, बहुधा जगके जीव ।
आतम हितकी सुध नहीं, यासैं भ्रमत सदीव ॥ ५२

यद्यपि शास्त्र पढ़ैं कुधी, तदपि मूढ़ सिरताज
चेत हिताहितका नहीं, लहै न शिवपुर राज ॥ ५३

इन्द्रिनसे मन भिन्न करि, मत बहु पूंछै और ।
रागादिक फैलाव तज, आप लाभ हो दौर ॥ ५४

जीव अन्य तन अन्य है, अन्य सकलव्यवहार ।
तज पर पुद्गल जीवगह, तो पावे भवपार ॥ ५५

जो ना जानै जीव क्या, जो न कहै है जीव ।
सो नास्तिक भव भव भ्रमै, जिनवर कहत सदीव ॥ ५६

रत्न दीप–रवि–दूध–दधि–घृत पत्थर अरु हेम ।
रजत फटिक अरु अग्नि ये, उदाहरण जिय एम ॥ ५७

देह आत्मा भिन्न इम, ज्यों सुवर्ण आकाश ।
पावै केवलज्ञान जिय तब– निज करै प्रकाश ॥ ५८

यथा व्योम निर्लेप शुचि, त्यों शुचि आतमप्रदेश ।
पर जड़ अम्बर आत्मा, चेतन है परमेश ॥ ५९

ज्ञानदृष्टि अंतर लखै, देहरहित जो जीव ।
फिर न जनम धर विष पिये, शिवथल रहे सदीव ॥ ६०

ज्ञानमयी चैतन्य है, पुद्गल तन जड़ जान ।
सुतदाराका मोहतज, शिवतियसे रति ठान ॥ ६१

आप आप अनुभव करै, क्यों फल सो न लहन्त ? ।
केवलज्ञान उपाय कर, शिवरमणी विलसन्त ॥ ६२

जो परभावहिं त्यागकर, आतम भाव लखन्त ।

केवलज्ञान स्वरूप हो, भव भव नाँ भटकन्त ॥ ६३

भाग्यवान नर धन्यसो, जिन त्यागे परभाव ।
लोकालोक प्रकाशके, देखा आतमराम ॥ ६४

अनागार सागार जो, वास करैं निजरूप ।
शीघ्र मुक्तिसुख पावहीं, यों भाषत जिन भूप ॥ ६५

विरला जानै तत्त्वको, विरला तत्त्व सुनन्त ।
विरला ध्यावै तत्वको विरला श्रद्धावन्त ॥ ६६

पुत्रादिक न कुटुम्ब मम, विषयभोग दुखखान ।
जो ज्ञानी इम चितवै, सो छेदें भव थान ॥ ६७

इन्द्र नरेन्द्र फनिन्द्र ये, जिय न शरण दातार ।
आतमको आतम शरण, बुध मुनि करत विचार ॥ ६८

जन्म मरण इकला करै दुख सुख भोगै एक ।
दुर्गति शिव पद एक ले, यह दृढ़ करो विवेक ॥ ६९

जन्म मरण एकहि करै, यह लखतज परभाव ।
ध्यावो अपने रूपको, शीघ्र बनों शिवराय ॥ ७०

पापहिं पाप कहे जगत, पुण्य पुण्यको लोय ।
कहै पुण्यको पाप जो, विरला पंडित कोय ॥ ७१

जैसे बेडो लोहँकी, त्यों सोनेकी जान ।
बुरी भली निश्चय करें, सो न सुधी अज्ञान ॥ ७२
हे जिय जो निर्ग्रन्थ मन, तो तू भी निर्ग्रन्थ।
रागादिक मलत्याग से, पावेगा शिव पंथ ॥ ७३
यथा बीजमें बट प्रगट बटमें बीज सुजान ।
तथा देहमें जीव है, अनुभवसे पहिचान ॥ ७४
यथा जीव परमात्मा, तैसा मैं नहिं अन्य ।
यन्त्र मन्त्रसे शिव नहीं, यों निश्चय सो धन्य ॥ ७५
दो त्रय चार रु पंच नव, सप्त छ पंचरु चार ।
गुण युत सो परमात्मा, इन लक्षण युत सार ॥ ७६
दो त्यागी दो गुण सहित, जो आतम रस लीन ।
जिनवर भाषैं सो लहै, मुक्ति कर्म कर क्षीन ॥ ७७
तीन रहित त्रय गुण सहित, स्वातम करै निवास ।
सो पावै सुख शाश्वता, जिनवर कहत प्रकास ॥ ७८
चार कषायन रहित जो अनन्त चतुष्टय सार ।
स्वातम में जो रच रहा, सो पवित्र अविकार ॥ ८६
संग रहित दश सहित दश, लक्षण दश गुण युक्त ।

सो ही निश्चय आत्मा, होय जगतसे मुक्त ॥ ८०

आतम दर्शन ज्ञान मय, आतम चारित्र वान ।
आतम संयम शील तप, आतम प्रत्याख्यान ॥ ८१

जो पहिचाने आप पर, सो निश्चय पर त्याग ।
सो ही है संन्यास वर, भाषें जिन बड़ भाग ॥ ८२

सम्यग्दर्शन है यही, आत्म विमल श्रद्धान ।
फिर फिर ध्यावै आत्मा, सो शुचि चारित्र वान ॥ ८३

रत्नत्रय युत आत्मा, वर तीरथ शिवहेतु ।
तन्त्र मन्त्र शिव हेतु ना, एक न मुनि शिव हेतु ॥ ८४

जहां जीव तहां सकलगुण, कहत केवली एम ।
प्रगट स्वानुभव आपका, निर्मल करो सप्रेम ॥ ८५

एकाकी इन्द्रिय रहित, मन वच तन कर शुद्ध ।
स्वातमका अनुभव करें, शीघ्र लहैं शिव शुद्ध ॥ ८६

बन्ध मोक्षकी भ्रान्ति से, बन्धैं जीवके कर्म ।
सहज रमै निज रूपमें, तो पावै शिव शर्म ॥ ८७

सम्यग्दृष्टी जीवकी, दुर्गति गमन न होय ।
पूर्व बन्धवश जायतो, सम्यग् दोष न कोय ॥ ८८

निज स्वरूपमें जो रमें, त्याग सर्व व्यवहार ।
सम्यग्दृष्टी होय सो, शीघ्र लहै भवपार ॥ ८६

अजर अमर गुणकानिलय सम्यक श्रद्धावान ।
करै न बंध नवीन विधि, पूर्व निर्जरा ठान ॥ ९०

जो सम्यक्त प्रधान नर, सो ज्ञानी धीमान ।
सो प्रधान त्रैलोक्यमें, सास्वत सुक्ख निधान ॥ ९१

ज्यों जल लिप्त न हो कमल, तैसैं सम्यग्वान ।
लिप्त न होवे कर्म मल, स्वातम दृढ़ श्रद्धान ॥ ९२

जो समता रस लीन हो, फिर फिर करत अभ्यास ।
अखिल कर्म सो क्षय करे, पावै शिवपुर वास ॥ ९३

पुरुषाकार पवित्र अति, देखै आतम रूप ।
सो पवित्र हो शिव लहै, होवै त्रिभुवन भूप ॥ ९४

अशुचि देहसे भिन्न जो, शुद्ध लखे द्रूप ।
सो ज्ञाता सब शास्त्रका, पावै सुक्ख अनूप ॥ ९५

स्व पर रूप जानै न जो, नहीं तजे परभाव ।
सकल शास्त्र जानै तदपि, मिटै न भव भटकाव ॥ ९६

तजके विकलप जाल जो, परम समाधि लहाय ।

तुमरी समझ सोई समझ हमरी हमैं नृपपद क्यों दिया ?

चौ०-श्रावण पुत्र ! कठिन वनवास । जलथल शीत पवनके त्रास
जो नहिं पाले साधु आचार । तो मुनि भेष लजावे सार ॥

गीता छन्द —

लाजें श्री मुनि भेष तातें, देहका साधन करो ।
सम्यक्त्व युत व्रत पञ्चमें तुम देशव्रत मनमें धरो ॥
हिंसा असत्य चोरी परिग्रह अब्रह्मचर्य सुटारकैं ।
कुल आपनेकी रीति चालो राजनीति विचारकैं ॥

चौ०-पिता अङ्ग यह हमरौ नाहिं । भूख प्यास पुद्गल परछाहिं
पाय परीषह कबहुं न भजैं । धर सन्यास मरण तन तजैं ॥

गीता छन्द—

संन्यास धरैं तनको तजैं, नहि डंश-मसकनसों डरैं ।
रहैं नग्नतन वनखण्डमें, जहां मेघ मूशल जल परैं ॥
तुम धन्य हो बड़भाग तजकै, राज तप उद्यम किया ।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमैं नृपपद क्यों दिया ?

चौ०-भादोंमें सुत उपजै रोग । आवैं याद महलके भोग ॥
जो प्रमादवश आसन टलै । तौ न दयाव्रत तुमसों पलै ॥

गीता-छन्द—

जब दयाव्रत नाहीं पलै, तब उपहास जगमें विस्तरै ।
अरहन्त अरु निर्ग्रन्थकी, कहो कौन फिर सरधा करै ?

तातैं करो [illegible] दान पूजा, राज काज संभालकैं।
कुल आपनेकी रीति चालो, राजनीति विचारकैं॥
चौ०-हम तज मोक्ष [illegible] साथ। मिटैं रोग भव भवके तात॥
समता मन्दिरमें पग धरैं। अनुभव अमृत सेवन करैं॥

गीता-छन्द—

करैं अनुभव पान आतम ध्यान वीणा कर धरैं।
आलाप मेघ मलार सोऽहं, सप्तभङ्गी स्वरभरैं॥
धग धग पखावज भोगसे सन्तोष मनमें कर लिया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें नृपपद क्यों दिया?

आसोज मास चौपाई—

आसुज भोग तजे नहिं जाँय। भोगी जीवनको डस खाँय॥
मोह लहर जियकी सुधि हरै। ग्यारह गुणथानक चढ़ गिरै

गीता-छन्द—

गिरैं थानक ग्यारवेंसे आय मिथ्या भूपरै।
विन भावकी थिरता जगतमें चतुरगति के दुख भरै॥
रहैं द्रव्यलिङ्गी जगतमें बिन ज्ञान पौरुष हारकैं।
कुल आपनेकी रीति चालो राजनीति विचारकैं॥
चौ०-विषय विडार पिता तन कसैं। गिरि कंदर निर्जनवन बसैं
महामन्त्रको लखि परभाव। भोग भुजङ्ग न घालैं घाव॥

गीता छन्द—

घालै न भोग भुजङ्ग तब क्यों मोहकी लहरों चढ़े?

परमाद तज परमात्मा परकाश जिन आगम पढ़ैं ॥
फिर काललब्धि उद्योत होय सु होय यों मन थिर किया
तुमरी समझ सोई समझ हमरी हमें नृपपद क्यों दिया ?

कार्तिक मास—चौपाई—

कार्तिकमें सुत करैं विहार । कांटे कंकर चुभैं अपार ॥
मारें दुष्ट खैंचके तीर । फाटै उर थर हरै शरीर ॥

गीता-छन्द—

थर हरै सगरी देह अपने हाथ काढ़त नहिं बनैं ।
नहिं और काहूसैं कहैं तब देहकी थिरता हनैं ॥
कोई खैंच बांधे खम्भसे कोई खांय आंत निकारकैं ।
कुल आपनेकी रीति चालो राजनीति विचारकैं ॥
चौ०-पद पद पुण्य धरा में चलैं । कांटे पाप सकल दल मलैं ॥
छिमा ढाल तल धरैं शरीर । विफल करैं दुष्टनके तीर ॥

गीता-छन्द—

कर दुष्ट जनके तीर निष्फल, दया कुंजर पर चढ़ें ।
तुम संग समता खड्ग लेकर, अष्ट करमनतें लड़ें ॥
धन धन्य यह दिन वार प्रभु तुम जोगका उद्यम किया ।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी हमें नृपपद क्यों दिया ?

अगहन मास—चौपाई—

अगहन मुनि तटिनी-तट रहैं । ग्रीषम शैल शिखर दुख सहैं ॥
पुनि जब आवत पावस काल । रहैं साधु जन वन विकराल ॥

गीता-छन्द—

रहें वन विकरालमें जहां सिंह स्याल सतावहीं।
कानोंमें बीछू विल करें, अरु व्याल तन लिपटावहीं॥
दें कष्ट प्रेत पिशाच आन अंगार पाथर डारिकै।
कुल आपनेकी रीति चालो राजनीति विचारकें॥
चौ०-हे प्रभु बहुत बार दुख सहे। विना केवली जांय न कहे॥
शीत उष्ण नरकनके तात। करत याद कम्पै सब गात॥

गीता-छन्द—

गात कम्पै नरकमें लहै शीत उष्ण अथाह ही।
जहां लाख योजन लोह पिण्ड सु होय जल गल जाय ही
असिपत्र वनके दुख सहे परवश स्ववश तप नहिं किया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी हमें नृपपद क्यों दिया?

पौष मास—चौपाई—

पौष अर्थ अरु लेय गयन्द। चौरासी लख लख सुखकन्द॥
कोड़ि अठारह घोड़ा लेहु। लाख कोड़ि हल चलत गिनेहु॥

गीता-छन्द—

लेहु हल लख कोड़ि षट्खंड भूमि अरु नवनिधि बड़ी।
लेहु देश कोष विभूति हमरी, राशि रतननकी पड़ी॥
धर देहु शिर पर छत्र तुमरे, नगर घोष उच्चारकें।
कुल आपनेकी रीति चालो, राजनीति विचारकें॥

आतम सुख अनुभव करै, लहै मोक्ष सुख पाय ॥९७॥
जो पिण्डस्थ पदस्थ अरु, रूपस्थरु रूपातीत ।
जिन भाषित ये ध्यान चतु, ध्यावो शुचि कर मीत ॥९८॥
सर्व जीव हैं ज्ञानमय, जानैं समता धार ।
सो सामायिक जिन कह्यो, प्रगट करै भव पार ॥९९॥
राग-द्वेषको त्याग कर, धारै समता भाव ।
सामायिक चारित्र सो, तीरथपति दर्शाव ॥१००॥
हिंसादिक तज निज रमै, चारित्र दूजो सोय ।
छेदोपस्थापन कह्यो, शिवपथ कारण लोय ॥१०१॥
जो मिथ्यामल परिहरैं, धरै सुदर्शन शुद्ध ।
सो परिहार विशुद्ध है, धरै लहै शिव बुद्ध ॥१०२॥
सूक्ष्मलोभके नाशसे, शुद्ध होंय परिणाम ।
सो सूक्षम चारित्र है, शाश्वत सुखका धाम ॥१०३॥
अर्हत् सिद्धाचार्य अरु, उपाध्याय सब साधु ।
ये पद हैं व्यवहारमें, नियत आत्म आराधु ॥१०४॥
सो शिव शंकर विष्णु सो, रुद्र बुद्ध जिनदेव ।
ईश्वर ब्रह्मा सिद्ध सो, आत्म-नाम गुण भेव ॥१०५॥
इन लक्षण युत आतमा, निकल करे तन वास ।
वही शुद्ध परमात्मा, दूजा भेद न तास ॥१०६॥

जो सीजे तो सीजते, जो सीजेंगे और ।
सो सब सम्यादृष्टि हो, भ्रान्ति रहित कर गौर ॥१०८॥
भव भटकनसे भीत हो, जोगिचन्द मुनिराज ।
प्राकृत दोहों में रच्यो निज सम्बोधन काज ॥१०९॥
तिन गुरुचरण-सरोज नमि, भाषा दोहा कीन ।
लघु मति नाथूरामने, लखि तिस आशय चीन ॥११०॥
चैत्र शुक्ल ग्यारस सुभग भृगुवासर शुभ चीन ।
छप्पनयुत उनइस शत, ग्रन्थ समापत कीन ॥१११॥

इति श्री योगीन्दुदेवकृत योगसारप्राकृतदोहा ग्रन्थका
हिन्दी दोहारूप स्वानुभवदर्पणसम्पूर्णम् ।

श्री वज्रदन्त चक्रवर्ती का बारहमासा

मङ्गलाचरण

वन्दूं मैं जिनेन्द्र परमानन्दके कन्द जगवन्द विमलेन्द्र जडताप हरणकूं । इन्द्र धरणेन्द्र गौतमादिक गणेन्द्र जाहि सेवै राव रंक भवसागर तरणकूं ॥ निर्बन्ध निर्द्वन्द दीनबन्धु दयासिन्धु, करें उपदेश परमारथ करणकूं । गावे "नयनसुखदास" वज्रदन्त बारहमास मेटो भगवन्त मेरे जन्मन-मरणकूं ॥

दोहा

वज्रदन्त चक्रेशकी, कथा सुनो मन लाय ॥
कर्म काट शिवपुर गये, बारह भावन भाय ॥ १ ॥

सवैया

बैठे वज्रदन्त राय आपनी सभा लगाय, वाके पास बैठे राय बत्तीस हजार हैं । इन्द्र कैसे भोग सार, रानी छयानवै हजार, पुत्र एक सहस्र महान गुणगार हैं ॥ जाके पुण्य प्रचण्डसे नये हैं बलवन्त शत्रु, हाथ जोड़ मान छोड़ सेवें दरबार हैं । ऐसो काल पाय माली ल्यायो एक डाली तामें देखो अलि अम्बुज मरण भयकार हैं ॥

सवैया—

अहो ! यह भोग महा पापको संयोग देखो, डाली में कमल तामें भौंरा प्राण हरै हैं नासिकाके हेतु भयों भोगमें अचेत सारी, रैनके कलापमें विलाप इन करै हैं । हम तो हैं पांचों ही के भोगी भये जोगी नाहिं, विषय कषायनके जाल माहिं परे हैं । जो न अब हित करूं जानें कौन गति परूं, सुतन बुलाके यों वचन अनुसरे हैं ॥

(चक्रवर्तीका वचन पुत्रोंके प्रति सवैया—)

अहो ! सुत जग-रीति देखके हमारी नीति, भई है उदास वनोवास अनुसरेंगे । राज भार शीस धरो, परजाका हित

करो, हम कर्म शत्रुन की फौजनसूं लरेंगे ॥ सुनत वचन तब कहत कुमार सब, हम तो उगालको न अङ्गीकार करेंगे । आप बुरो जान छोड़ो, हमें जगजाल बोड़ो, तुमरे ही संग पंच महाव्रत धरेंगे ॥

पिता वचन, असाढ़ मास—चौपाई—

सुत! असाढ़ आयो पावस काल ।
शिर पर गर्जत यम विकराल ॥
लेहु राज सुख करहु विनीत ।
हम वन जांय बड़नकी रीति ॥

गीता छन्द—

जांय तपके हेतु वनकूं, भोग तज संयम धरें ।
तज ग्रन्थ सब निर्ग्रन्थ हो, संसार सागरसे तरैं ॥
ये ही हमारे मन वसी, तुम रहो धीरज धारकैं ।
कुल आपनेकी रीति चालो, राजनीति विचारकैं ॥

चौ०-पिता राज तुम कीनों भौन । ताहि ग्रहण हम समरथ कौन?
यह भौंरा भव-भोगन व्यथा । प्रगट करत कर कंकन यथा॥

गीता छंद—

यथा करका कांगना, सन्मुख प्रगट नजरों परै ।
त्यों ही पिता भौंरा निरख, भव-भोग से मन थरहरै ॥
तुमने तो वनके वासहीको सुख्य अंगीकृत किया ।

चौ०-सम्यक् स्वादसुगुणआधार। भये निरञ्जन निरआकार
आवागमन जलांजलि दई। सब जीवनकी शुभगति भई॥

गीता छन्द

भई शुभगति सबनकी जिन शरण जिनपतिकी लई
पुरुशार्थसिद्धयुपायसे परमार्थकी सिद्धी भई
जो पढ़ै बारह मास भावन भाय चित हुलसायकैं
तिनके हों मंगल नित नये अरु विघन जाय पलाय कैं
दोहा—नित नित नव मंगल बढ़े, पढ़ै जो यह गुणमाल।
सुरनरके सुख भोगकर, पावै मोक्षरसाल॥

इति नयनसुखदासकृत वज्रदन्त चक्रवर्ती की बारहमासा

दो हजार मांहि ते तिहत्तर घटाय अब विक्रमको संवत विचारके धरत हूं। अगहन अशित त्रयोदशी मृगाङ्कवार अर्द्ध निशामाहि ये पूरण करत हूं॥ इति श्री वज्रदन्त चक्रवर्तिको वृतन्त रचके पवित्र 'नयन' आनन्द करत हूं। ज्ञानवन्त करो शुद्ध जान मेरी बालबुद्धि दोषपै न रोष करो मैं पायन परत हूं॥

—०❀०—

ओ३म

बारह भावना मंगतराय कृत

दोहा छंद

वन्दूं श्री अरहन्त पद वीतराग विज्ञान।
वरणूं बारह भावना जगजीवन हितजान॥

विश्नुपद छन्द

कहां गये चक्री जिन जीता, भरतखंड सारा।
कहां गये वह राम रु लछमन, जिन रावण मारा॥
कहां कृष्ण रुकमणि सतभामा, अरु संपति सगरी।
कहां गये वह रङ्गमहल, अरु सुवरनकी नगरी॥
नहीं रहे वे लोभी कौरव जूझ मरे रनमें।
गये राज तज पाण्डव वनको अगिन लगी तनमें॥
मोह नींद से उठ रे चेतन, तुझे जगावनको।
हो दयाल उपदेश करें, गुरु बारह भावन को॥

अथिर भावना

सूरज चांद छिपे निकले ऋतु फिर फिर कर आवे।
प्यारी आयू ऐसी बीते पता नहीं पावे॥
पर्वत पतित नदी सरिता जल वहकर नहीं हटता।
स्वांस चलत यों घटे काठ ज्यों आरे सों कटता॥
ओस बूंद ज्यों गलै धूपमें वा अंजुलि पानी।

छिन छिन यौवन छीन होत है क्या समझे प्राणी ॥
इन्द्रजाल आकाश नगर सम जग संपति सारी।
अथिर रूप संसार वि ारो सब नर अरु नारी ॥

अशरण भावना

कालसिंहने . मृगचेतनको घेरा भववनमें।
नहीं बचावनहारा कोई यों समझो मनमें ॥
मंत्र यंत्र सेना धन संपति राज पाट छूटै।
वश नहीं चलता काल लुटेरा काय नगर लूटै ॥
चक्र रतन हलधरसा भाई काम नहीं आया।
एक तीरके लगत कृष्णकी विनश गई काया ॥
देव धर्म गुरु शरण जगतमें और नहीं कोई।
भ्रमसे फिरै भटकता चेतन यूंही उमर खोई ॥

संसार भावना

जन्म मरण और जरा रोगसे सदा दुखी रहता।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव भव परिवर्तन सहता ॥
छेदन भेदन नरक पशूगति वध-बन्धन सहना।
राग उदयसे दुख सुरगति में कहां सुखी रहना ॥
भोग पुन्य फल हो इक इन्द्री क्या इसमें लाली।
कुतवाली दिन चार वही फिर खुरपा अरु जाली ॥
मानुष जन्म अनेक विपति मय कहीं न सुख देखा।

पंचम गति सुख मिले शुभाशुभका मेटो लेखा ॥

एकत्व भावना

जन्मै मरै अकेला चेतन सुख दुखका भोगी।
और किसीका क्या इक दिन यह देह जुदी होगी ॥
कमला चलत न पैंड़ जाय मरघट तक परिवारा।
अपने अपने सुखको रोवैं पिता पुत्र दारा ॥
ज्यों मेलेमें पंथी जन मिलि नेह फिरैं धरते।
ज्यों तरुवरपै रैन बसेरा पंछी आ करते ॥
कोस कोई दो कोस कोई उड़ फिर थक थक हारै।
जाय अकेला हंस संगमें कोई न पर मारै ॥

भिन्न भावना

मोहरूप मृगतृष्णा जगमें मिथ्याजल चमकै।
मृग चेतन नित भ्रममें उठ उठ दौड़ें थक थककें ॥
जल नहिं पावे प्राण गमावै भटक भटक मरता।
वस्तु पराई मानै अपनी भेद नहीं करता ॥
तू चेतन अरु देह अचेतन यह जड़ तू ज्ञानी।
मिले अनादि यतनते विछुड़े ज्यों पय और पानी ॥
रूप तुम्हारा सबसे न्यारा भेदज्ञान करना।
जौ लौं पौरुष थके न तौलों उद्यम सों चरना ॥

चौ०-अहो कृपानिधि! तुम परसाद। भोगे भोग सु वे मर्याद॥
अब न भोगकी हमको चाह। भोगनमें भूले शिवराह॥

गीता-छन्द—

राह भूले मुक्तिकी बहुवार, सुरगति संचरै।
जहां कल्पवृक्ष सुगंध सुन्दर, अप्सरा मनको हरै॥
जो उदधि पी नहिं भयो तिरपत, ओस री कै दिन जिया?
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें नृपपद क्यों दिया?

माघ मास—चौपाई—

माघ सधै न सुरनतें सोय। भोग भूमियनतें नहिं होय॥
हर हरि अरु प्रतिहरिसे वीर। संयम हेतु धरैं नहिं धीर॥

गीता-छन्द—

संयमी धीरज धरैं, नहिं टरें रनमें युद्धसूं।
जो शत्रु गण गजराजकूं दल मलै पकर विरुद्धकूं॥
पुनि कोटि शिल मुद्गर समानी देय फेंक उपारकैं।
कुल आपनेकी रीति चालो राजनीति विचारकैं॥

चौ०-बंध योग उद्यम नहिं करैं। वह तो तात कर्म फल भरैं॥
बांधे पूरव भवगति जिसी। भुगतैं जीव जगतमें तिसी॥

गीता-छन्द—

जीव भुगतैं कर्मफल कहो कौन विधि संयम धरैं।
जिन बंध जैसा बांधियो तैसा हि सुख दुखसों भरैं॥

यों जान सबको बंधमें निर्बन्ध का उद्यम किया ।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें नृपपद क्यों दिया ?

फाल्गुन मास--चौपाई

फागुन चाले शीतल वाय । थर थर कम्पै सबकी काय ॥
तप भव-बंध-विदारनहार । त्याग मूढ महाव्रत धार ॥

गीता-छन्द—

धार परिग्रहव्रत विसारें, अग्नि चहुंदिशि जारहीं ।
करै मूढ शीत व्यतीत दुर्गति गहे हाथ पसारहीं ॥
सो होंय प्रेत पिशाच भूतरु, ऊंच शुभगति टारकें ।
कुल आपनेकी रीति चालो, राजनीति विचारकें ॥
चौ०-हे मतिवन्त ! कहा तुम कही । प्रलय पवनकी वेदन सही
धारी मच्छ कच्छकी काय । सहे दुःख जलचर पर्याय ॥

गीता - छन्द—

पाय पशु पर्याय परवश रहे सींग बधायके ।
जहां रोम रोम शरीर कंपै मरे तन तड़फायके ॥
फिर मुये चाम उचेर श्वान सियाल मिल शोणित पिया
तुमरी समझ सोई समझ हमरी हमें नृपपद क्यों दिया ?

चैत्र मास—चौपाई

चैत लता मदनोदय होय ऋतु वसंतमें फूले सोय ॥
तिनकी इष्ट गन्धके जोर । जागे काम महाबल फोर ॥

गीता छन्द—

फोर बलको काम जागै लेय मन पुर छीन ही ।
फिर ज्ञान परम निधान हरकैं करै तेरा तीनही ॥
इतके न उतके रह गये तब कुगति दोऊ कर भारकैं ।
कुल आपनेकी रीति चालो राजनीति विचारकैं ॥

चौ०—ऋतु वसन्त वन में नहिं रहै, भूमि मशान परीषह सहै ।
जहां नहिं हरित काय अंकूर, उड़त निरन्तर अहनिशि धूर ॥

गीता छन्द—

उड़े वनकी धूर निशिदिन, लगै कांकर आयकैं ।
सुन शब्द प्रेत प्रचण्डके तब काम जाय पलायकैं ॥
मत कहो अब और प्रभु भव - भोगमें मन कँपिया ।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी हमें नृपपद क्यों दिया?

वैसाख मास चौपाई—

मास विसाख सुतन अरदास । चक्री मन उपजो विश्वास ।
अब बोलनको नाहीं ठौर । मैं कहुं और पुत्र कहैं और ॥

गीता छन्द—

और अब कछु मैं कहूं नहिं रीति जगकी कीजिये ।
इक बार हमसे राज्य लेके, चाहे जिसको दीजिये ॥
पोता था इक षट् मासका अभिषेक कर राजा कियो ।
पितु संग सब जग जाल सेती निकस वन मारग लियो ॥

चौ०—उठे वज्रदन्त चक्रेश, तीस सहस नृप तज अलवेश
एक हजार पुत्र बडभाग, साठ सहस्र सती जग त्याग

गीता छन्द—

त्याग जगकूं ये चले सब, भोग तज ममता हरी
समभाव कर तिहुं लोकके जीवोंसे यों विनती करी
अहो जेते जीव जगमें क्षमा हम पर कीजियो।
हम जैन दीक्षा लेत हैं तुम वैर सब तज दीजियो॥

गीता

वैर सबसे हम तजा अरहन्तका शरण लिया।
श्री सिद्ध साहूकी शरण सर्वज्ञके मत चित दिया॥
यों भाष पिहितास्रव गुरुन ढिंग जैन दीक्षा आदरी।
करलोंच तजके सोच सबने ध्यानमें दृढ़ता धरी॥

जेठ मास—चौपाई

जेठ मास लू ताती चलै। सूखे सर कपि गण मद गलै॥
ग्रीषम काल शिखरके शीश। धरयो आतापन योग मुनीश॥

गीता-छंद

धरि योग आतापन सुगुरुने, तब शुक्ल ध्यान लगाईयो।
तिहुं लोक भानु समान केवलज्ञान तिन प्रगटाईयो॥
धन वज्र दन्त मुनीश जग तज कर्मके सन्मुख भये।
निज काज अरु पर काज करके, समय में शिवपुर गये॥

अशुचि भावना

तू नित पौखे यह सूखे ज्यों धोवे त्यों मैली।
निश दिन करै उपाय देहका रोग दशा फैली॥
मात पिता रज वीरज मिल कर बनी देह तेरी।
हाड मांस नश लहू राध की प्रगट व्याधि घेरी॥
काना पौंडा पड़ा हाथ यह चूसे तो रोवै।
फले अनन्त जु धर्म ध्यानकी भूमि विष बोवै॥
केसर चंदन पुष्प सुगंधित वस्तु देख सारी।
देह परसते होय अपावन निशदिन मल जारी॥

आस्रव भावना

ज्यों सरजल आवत मोरी त्यों आस्रव कर्मन को।
दर्वित जीव प्रदेश गहै जब पुद्गल भरमनको॥
भावित आस्रव भाव शुभाशुभ निश दिन चेतनको।
पाप पुण्यके दोनों करता कारण बंधनको॥
पन मिथ्यात योग पन्द्रह द्वादश अविरत जानो।
पंच रु बीस कषाय मिले सब सत्तावन मानो॥
मोह भावकी ममता टारें पर परिणत खोते।
करै मोख का यतन निरास्रव ज्ञानी जन होते॥

संवर भावना

ज्यों मोरी में डाट लगावै तब जल रुक जाता।

त्यों आस्रवको रोके संवर क्यों नहिं मन लाता ॥
पंच महाव्रत समिति गुप्ति कर वचन काय मनको ।
दश विध धर्म परीषह बाइस बारह भावनको ॥
यह सब भाव सतावन मिलकर आस्रवको खोते ।
सुपन दशा से जागो चेतन कहां पड़े सोते ॥
भाव शुभाशुभ रहित शुद्ध भावन संवर पावै ।
डाट लगत यह नाव पड़ी मझधार पार जावै ॥

निर्जरा भावना

ज्यों सरवर जल रुका सूखता तपन पड़े भारी ।
संवर रोके कर्म निर्जरा है सोखन हारी ॥
उदय भोग सविपाक समय पक जाय आम डाली ।
दूजी है अविपाक पकावै पालविषै माली ॥
पहली सबके होय नहीं कुछ सरै काम तेरा ।
दूजी करै जु उद्यम करके मिटै जगत फेरा ॥
संवर सहित करो तप प्राणी मिलै मुकति रानी ।
इस दुलहिन की यही सहेली जाने सब ज्ञानी ॥

लोक भावना

लोक अलोक अकाश मांहि थिर निराधार जानो ।
पग पसारि कर कटि धरना, षट् द्रव्य मयी मानो ॥

इसका कोई न करता हरता अमिट अनादी है।
जीव रु पुद्गल नाचै यामें कर्म उपाधी है ॥
पाप पुण्य सों जीव जगत में नित सुख दुख भरता।
अपनी करनी आप भरै शिर औरन के धरता ॥
मोहकर्मको नाश मेटकर सब जगकी आशा।
निज पदमें थिर होय लोकके शीश करो वासा ॥

बोधि दुर्लभ भावना

दुर्लभ है निगोदसे थावर अरु त्रसगति पानी।
नर काया को सुरपति तरसे सो दुर्लभ प्राणी ॥
उत्तम देश सु संगति दुर्लभ श्रावक कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक दुर्लभ संयम पंचम गुण ठाना ॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षाका धरना।
दुर्लभ मुनि वरको व्रत पालन शुद्ध भाव करना
दुर्लभसे दुर्लभ है चेतन बोधि ज्ञान पावै ॥
पाकर केवल ज्ञान नहीं फिर इस भवमें आवै।

धर्म भावना

षट् दरशन अरु बौद्ध रु नास्तिकने जगको लूटा।
आत्म धर्म ही सत्य धर्म है और धर्म झूठा ॥
हो सुछंद सब पाप करै सिर करता के लावै।
कोई क्षणिक कोई करता सो जग में भटकावै ॥

वीतराग सर्वज्ञ दोष बिन श्री जिन की वाणी।
सप्त तत्वका वर्णन जामें सबको सुखदानी॥
इनका चितवन बार बार कर श्रद्धा उर धरना।
मंगत इसी जतनतैं इक दिन भव सागर तरना॥

इति

दश लक्षण धर्म की लावनी

सब धर्मों में सारधर्म दश, सद्गति बंध कराते हैं।
दश लक्षणको धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं ॥टेक
क्षमा मार्दव आर्जव प्यारे, सत्य शौच संयम भाई।
तपश्चरण अरु त्याग, अकिंचन ब्रह्मचर्य अति सुखदाई।
नित्य प्रति व्यवहार बीच, हम तुमने भी अनुभव पाया।
क्रोध मान अरु माया चारी, झूठ मैल मन ही छाया।
विषय वासना आदि पाप फंस, जगमें अपयश पाते हैं।
दश लक्षणको धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं॥१
पृथक पृथक सब रूप दशों का, अब आगे बतलाते हैं।
कान लगाकर सुनो भव्य सब कर्म नाश हो जाते हैं।
क्षमा क्रोध का त्याग किए प्रकटे, फिर सुख होवे भारी।
क्रोध वसी तन क्षीण रोग, कई होय भयंकर दुखकारी।
क्रोधी के माता पितादि स्नेही, अप्रिय हो जाते हैं।
दश लक्षणको धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं॥२
गुणी पुरुष भी क्रोधी हो मणिधर अहिसम अपयश पावै।
क्रोधीके उपवास दान तप, संयम सब निष्फल जावै।
धैर्य छूट हो बुद्धि नाश हृै, गात्र शिथिल हट बढ़ जावै।

कंपन हो रोमांच क्रोधवश, ज्ञान तन्तु सब नश जावै ।
वचन भ्रष्ट अपयश दरिद्र बढ़ मित्र शत्रु हो जाते हैं ।
दश लक्षणको धारे सो, निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥३॥
स्वामी कार्तिकेय अपनी, अनुप्रेक्षा में फरमाते हैं ।
क्रोध करे सो नर्क जाय, अरु क्षमावान सुख पाते हैं ।
सुखाभिलाषी पुरुष सदा, निज मनमें समता भाव धरैं ।
दुष्ट बुद्धि की सहैं मार, कटु बैन सुने नहिं क्रोध करैं ।
हुआ कोई अपराध, इन्होंका भद्र यही चितलाते हैं ।
दश लक्षणको धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥४
छेदन-भेदन या वध-बन्धन, क्रोधवसी यदि मूढ़ करे ।
क्षमावान ज्ञानी नर तब भी, अपने चित यह बात धरे ।
मम अखंड अविनाशी आतम, अलख निरंजन है चिद्रूप ।
पुद्गलका यह नाश करे, यह पर-पदार्थ नहिं मेरा रूप ।
निश्चय होय वियोग एक दिन, हैं जड़ ये नश जाते हैं ।
दश लक्षणको धारे सो, निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥५॥
पूर्वोपार्जित पाप कर्मका, नाश करे उपकारी है ।
कर्म निर्जरा मोक्ष मार्गका, साधन होता भारी है ।
शिव नारायण शान्ति भावधर, अगर समाधी मरण करूं
तो होवे कल्याण आतमका, फेर न जगमें जन्म धरूं ।

सब जीवोंसे बैर भाव तज, क्षमा कराकर जाते हैं।
दश लक्षणको धारे सो, निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ।।६

उत्तम मार्दव धर्म की लावनी

धर्म दूसरा मार्दव जानो, जैन शास्त्र बतलाया है।
मृदोर्भाव मार्दव ऐसा, श्री जिनवर फरमाया है।
दीन दरिद्री मूर्ख अज्ञानी, हो अशक्त कुल जाति विहीन।
हीनाचारी हो कुरूप ये होते हैं, स्वाभाविक दीन।
ऐसे दीन नम्र परिणामी, मार्दव नहीं धराते हैं।दश० ।।१
उत्तम ज्ञानवान तपसी हो, हो समर्थ ऐश्वर्य प्रधान।
रूपवान कुलवान जाति धनवान, होय अरु हो बलवान।
ऐसे हो नहिं मान करें बनि नम्र विनय युत शिष्टाचार।
भक्ति दया अरु यथायोग्य, जो करते हों सबका सत्कार।
मनसे मान कषाय तजें, मार्दव धारी बन जाते हैं।।२।।दश०
गर्व तुम्हारा शत्रू मित्रो, मार्दव का घातक भारी।
रावणने तज दीना मार्दव, हुई दशा क्या दुखकारी।
हित मित परिजन सब समझाया, गर्ववशी नहि मानी बात
राज्य सम्पदा नष्ट हुई, अरु गया नर्क लक्ष्मण के हाथ।
शिवनारायण भनें गर्व कर, दुर्गति बंध कराते हैं।।३।।दश०
उत्तम कुल बल धन रूपादिक का क्या तू मद करता है।

यह सब तेरा क्षणिक मूर्ख क्यों नाहक ही दम भरता है।
जन्म मरण अरु युवा बुढ़ापा, लक्ष्मी अरु दारिद्र सदा।
लगा हुआ है साथ साथ सब, आता जाता यदा कदा।
नाशवान सब वस्तु जगत की मूढ़ मान फंस जाते हैं ॥४॥

मान किये लंकेश नशाया, भरत चक्रधर शरमाया।
वृषभाचल पर गया नाम लिखने, पर स्थान नहीं पाया।
भंग हुआ तब मान सोच, तब मनमें उसके यह आया।
होगये भूपर लाखों मुझसे, क्या है मेरी यह माया।
पूर्व लिखा इक नाम मिटा जो, निजका लिख घर आते हैं।
दश लक्षणको धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं ॥५

परकी निन्दा स्वात्म प्रशंसा, अवगुण पर के प्रगट करै।
पर के गुण को आच्छादन, जो मूढ़ करे सो नर्क परै।
नीच गोत्र का वंध करे, शठ आस्रव कर्म बढ़ाते हैं।
बढ़ा बढ़ा शिर बोझ पापका, अन्त नर्कमें जाते हैं।
इससे मान तजो सुख चाहो, तो श्री जिन फरमाते हैं ॥६

धनका मद क्या करे नित्य प्रत्यक्ष देखते सब कोई।
लक्ष्मी चंचल चपल एक घर रहते कभी न हम जोई।
जिस प्रकार वेश्या धनाढ्य सो, नित्य प्रेमका नाट्य करे।

उसी तरह वश पुण्यवान के, घर में लक्ष्मी ठाट करे।
वेश्याको नहि प्रेम किसीसे, बुधजन यों फरमाते हैं ॥७

ऊंच नीच विद्वान मूढ़ बलशाली हैं या हैं कमजोर।
रूपवान है या कुरूप वेश्या नहिं कभी लखे इस ओर।
धन हो जिसके पास उसीको दिखा प्रेम मन बहलावे।
प्रेमी का सब माल हजम कर, धक्के मार निकल वावे।
जब प्रेमी हो जाय दरिद्री, जूते खा घर जाते हैं ॥८

इसी तरह से लक्ष्मी भी वश पुन्यवानके घर जावे।
पुन्य क्षीण होते ही मित्रो तत्क्षण उसको तज जावे।
रूप कुरूप मूढ़ वा ज्ञानी नेकु लखै न इनकी ओर।
ऊंच नीच बलवान निबल तज, चली जाय परगृह सब छोर
याते धन मद तजो मानकर, चक्रपती नश जाते हैं।
दश लक्षणको धारे सो, निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥६

अपने व्रत तप संयम का, जो मूढ़ मान मन करता है।
उस-सा, हमको मूढ़ जगतमें, और दृष्टि नहिं परता है।
जप-तप व्रत संयम प्रभावसे, स्वर्ग मोक्ष तक मिल जावे।
मूढ़ उसी चिन्तामणि को कर मान व्यर्थ ही लुटवावे।
रात दिवस मन मान बसे, कब आत्म ध्यान कर पाते हैं ॥१०

मार्दवधारीका जगमें, कोइ शत्रु दृष्टि नहिं परता है।
नम्र विनय कोमल परिणामी, से जग प्रीती करता है।
मोटे और कठोर वृक्ष, आंधी के झोकों से भाई।
मूल सहित हों नष्ट वेंत का वृक्ष नम्र रहे सरसाई।
याते मनते मान तजो, तजने से पाप नशाते हैं ॥११
अपने से जो कुल बल पदमें रखते हों ज्यादा अधिकार।
गुण तप चारित्र ज्ञान ध्यानमें, करो सदा उनका सत्कार।
अपने से लघु हों नित तिन पर, प्रेम विनय युत राखो प्यार
शत्रु मित्र अविनयी विरोधीसे, करो सदा चोखा व्यवहार।
शिवनारायण कहें नम्र परिणामी सद्गतिपाते हैं ॥१२

उत्तम आर्जवकी लावनी

आर्जव धर्म तीसरा जानो, उसका रूप सुनो भाई।
ऋजोर्भाव आर्जव व्याख्या, जैनागम में बतलाई।
सरल भाव मन मैल छांड, जो तज देते हैं कुटिलाई।
मायाचारी तजैं वक्रता कीर्ति उन्हों की लखपाई।
मनमें हो वहि प्रकट करे, वह कार्य रूपमें लाते हैं।
दश लक्षणको धारे सो, निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१
पर पदार्थमें स्वात्म भाव धर, आत्म भाव को विसरावे।
मनो भाव कुछ और अन्यथा, वचन मांहि जे दरसावे।

कार्य करें कुछ और अन्यथा, मन में यह कुटिलाई।
जाल कपट छल मायाचारी, हो जिनके मनमें छाई।
इन्हीं भावना के धारी, आर्जव घातक बन जाते हैं ॥२

मायाचारी पुरुष वाह्य में, आकृति सौम्य बनाता है।
मीठी मीठी बात बनाकर, पहले विश्वास दिलाता है।
स्वार्थ सिद्धिके हेतु विपक्षी से भी घुल मिल जाता है।
बगुले जैसी भक्ति धार, फिर अपना काम बनाता है।
छद्म भेष खुल जाने पर, जगमें धिक्कारे जाते हैं ॥३
मायाचारी के मुख से नहिं सत्य वचन निकले भाई।
उलटे सीधे घाट घड़े, चितमें रहती आकुलताई।
यद्यपि सत्य कहे तो भी, विश्वास नहीं उनका आवे।
मायाचारी के जप तप व्रत, संयम सब निष्फल जावे।
यातें मायाचार तजो, जो तजते सद्गति पाते हैं ॥४
माया चारी आप दुखी, निशिदिन मन में रहता भाई।
लखे अन्य को दुखी हर्ष मन में, हो उसके अधिकाई।
वास्तव में ये महा भयंकर, शत्रु सांप समझो कारे।
प्रकट रूप से वार करे अरि, ये विश्वास दिला मारे।
मायाचारी के चक्कर में पड़, सज्जन दुख पाते हैं।
दशलक्षण को धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं ।५॥

कौतुक वश या स्वार्थ साधने के हित घात करे भारी।
पाप पुण्य की ओर नेकु लखते, नहिं ये मायाचारी।
जाल कपट छल छिद्र झूठ कर, आर्जव भाव नशाते हैं।
माया तैर्यग्योनस्य यों, उमास्वामी बतलाते हैं।
होते हैं तिर्यंच और कई नर्क गती में जाते हैं ॥६॥ दश
छेदन भेदन भूख प्यास, बध बन्धन के दुख भरता है।
शीत उष्ण अरु दंश मशक या भार वहन भी करता है।
सबल होय औरों को मारे, निर्बल हो तो आप मरे।
पकड़ शिकारी बांध हाथ पग दया रहित हो प्राण हरे।
पशू होय मुंह नाक छिदा बाहन में जोते जाते हैं ॥७॥दश
शक्तिहीन जब हुआ पशू तब बुला खटिक को बतलाया।
बली चढ़ाया होम यज्ञ में नाश करे उसकी छाया।
ऐसे ऐसे इनसे भारी, दुख मायाचारी पावे।
शिव नारायण कहैं अनंतहि, काल भ्रमण जग कर बावे।
हित वांछक तज यह कुभाव, आर्जव धर मुक्ति पाते हैं ॥८

उत्तम सत्यव्रत की लावनी

चौथा धर्म सत्य पहिचानो, जैनागम में बतलाया।
पर को हित मित कहा जाय, सोई सत्य धर्म गुरु समझाया।
वस्तु स्वरूप बिना न्यूनाधिक योग्य यथावत प्रकट करे।

सत्य वही है अपने मुंह से नहीं अन्यथा वच उचरे।
सत्य स्वभाव कहा आतम का, धारक कीर्ति कमाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय, भवभ्रमण मिटाते हैं ॥१
वस्तु स्वरूप कहे न्यूनाधिक या विपरीत भखे भाई।
जिनके मन में रागद्वेष हो, या कषाय हो अधिकाई।
रहित अपेक्षा पुरुष नहीं विपरीत बैन मुख मों गाले।
निर्मल आतम को असत्य की क्यों वे उलझन में डाले।
विषय कषाय रागद्वेषादिक तज जो सत्य सुनाते हैं ॥२॥
है असत्य पर भाव आतम का इससे नेह तजो भाई।
मिथ्यावादी की जग में परतीत नहीं हम लख पाई।
करें घृणा सब लोक नहीं विश्वास जगत में करते हैं।
अटक जाय व्यवहार नष्ट व्यापार होय दुख भरते हैं।
मिथ्यावादी सभी जगह पर फटकारे ही जाते हैं ॥३॥
लोभ मोहभय बैर भाव आशा वश क्रोध वशी कोई।
लज्जा वश अरु मान मनोरंजन कौतुक वश हो सोई।
यद्यपि बोलते समय असत् कुछ मन में आनन्द आता है।
प्रगट न हो सतबात वहां तक वह निज अकड़ दिखाता है।
खुल जावे जब भेद झूठ सच का धिक्कारे जाते हैं ॥४ ॥
कितने ही यह कहते हैं, व्यापार झूंठ बिन नहिं होता।

लेकिन उनकी गलत कल्पना, झूंठा है इक दिन रोता ॥
सतवादी व्यापारी को पहले, कुछ अड़चन आती है।
सत्यवादिता प्रकट हुए पर, सब व्याधा मिट जाती है॥
हम तुम भी व्योहार बीच, सतवादी को अपनाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते है ॥५
झूठ बोलने वाले कई यक राज दंड भी पाते हैं।
ताड़न मारन काराग्रह के नाना कष्ट उठाते हैं॥
सतवादी का सभी जगह, आदर से स्वागत होता है।
झूट बोलने से वसु राजा नर्क तीसरे रोता है ॥

रामचन्द्र बलिराज युधिष्ठिर सत्य से आज पुजाते हैं।६
घर में यदि स्त्री पुत्रादिक, भाई बहन कोई असत कहे ॥
सुनकर उनके असत बैन उपजै मन क्रोध न धैर्य रहे।
उसी तरह से सोच सदा, तुम मत असत्य व्यवहार करो।
झूठ पाप का मूल जान बिलकुल इसका परिहार करो।
नारद सदृश सत्य वचन से, स्वर्ग धाम को जाते हैं ॥७॥
झूठ वचन की कुछ २ व्याख्या, अब आगे समझाते है।
जिन वचनों से हो पीड़ा या स्वपरघात हो जाते हैं॥
निंदा हास्य कलह या कोई गुप्त भेद को प्रकटाना।
राजाज्ञा का भंग शब्द का अर्थ बदल हटकर जाना॥

पक्ष ग्रहण करना पापी का, मिथ्या वैन कहाते हैं ॥८॥
आर्षप्रणीत शास्त्र को दूषत कह पाखंडी मत गावें ।
झूठी साक्षी भंड वचन, गाली गलौज चित में लावें ॥
विषय वासना राग रंग के, ग्रन्थ बनावें बनवावें ।
इसी तरह से अन्य कई प्रकार भेद जिनमत में गावें ॥
झूठ दुःख का मूल जगत में, अल्प बुद्धि फंस जाते हैं ।
दश लक्षण को धारे सो, निश्चय भवभ्रमण मिटाते हैं ॥९॥
सतवादी लख यथा योग्य अवसर निज वैन सुनाते हैं ।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव लख पर का हित चित लाते हैं ॥
कहीं सत्य के कहने से यदि पीड़ा पर को हो जावे ।
तो सतवादी देख अवस्था, मौन भाव ही अपनावे ॥
सद्गति के इच्छुक सब प्राणी, सत्य भाव चित लाते हैं ।
दशलक्षण को धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१०
है कर्तव्य तुम्हारा मित्रो, सदा सत्य को अपनाओ ।
झूठ त्याग कर आत्म शक्तिको, उन्नति कर भव तरिजाओ ॥
पंचेन्द्री सैनी उत्तम कुल सद् संगति तुमने पाई ।
भाषण शक्ति रत्न अमोलक भव तरणे में है सहाई ॥
शिव नारायण कहें सत्य बोले सो मुक्ति पाते हैं ।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥

उत्तम शौच धर्म की लावनी

पंचम धर्म शौच गुण, निज, आतम स्वभाव है बतलाया।
कार्तिकेय मुनिवर ने, अपनी अनुप्रेक्षा में फरमाया ॥
शुचेर्भाव इति शौच ऐसा, जैनागम ने गाया।
भावो की हो शुद्धि, शौच का यह ही लक्षण समझाया ॥
पर पदार्थ लोभादि कषायों को तज शौच जगाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१
भूषण वसन देह गृह शुद्धि वाह्य शौच कहलाती है।
अन्तरंग की शुद्धि बिना वह शुद्धि काम नहि आती है ॥
घट है सुन्दर स्वच्छ मगर अन्दर है उसके मद्य भरा।
उसी तरह हो गात स्वच्छ पर मन में मैल कषाय भरा ॥
वाह्य रूप है शुद्ध मगर अन्तर तो मैला पाते हैं ॥२॥
इतर फुलेल सुगन्धित नाना प्रकार उबटना कर न्हाया।
व्यंजनादि बहु भांति नित्य प्रति बनवा बनवाकर खाया ॥
रजरु वीर्य से बना गात तोहु शुद्ध नहीं होता भाई।
गुदा योनी अरु लिंग नाक मुंह कान मैल अधिकाई ॥
होते ही सम्बन्ध सुगन्धित, असुगन्धित बनजाते है ॥३
ऐसा जो अपवित्र गात क्या धोने से शुचि हो जावे।
भोले जं जग जीव वास्तविक बात नहीं चित में लावे ॥

साधु पुरुष विद्वान् शौच मन शुद्ध होय तब बतलावे।
यद्दपि कोयला धुले दूध सों पर नहिं श्वेत रंग पावे।
लखो सुरचित लाख गात है जड़ जड़ में मिल जाते हैं ।४
मन में लोभ कषाय भरा, हम तीरथ करने जाते हैं।
गंगा यमुना सिन्धु नर्मदा, सरिता स्नान कराते हैं।
कृत कृत्य मन मान भूलकर, आत्म भाव विसराते हैं।
बाह्याडम्बर में पड़कर हम सत्य न चित में लाते हैं।
मन कषाय तजे बिन मन से, जग में भ्रमण कराते हैं।।५
गृहस्थियों को बाह्य शुद्धि रखना भी आवश्यक भाई।
देह गेह भोजन मलीन सब, बाह्य शुद्धि बिन हो जाई।
हो उत्पन्न रोग की फिर बो प्रसन्नता घट जाती है।
शुद्ध स्वच्छ नहिं रहे उन्हों की निन्दा देखी जाती है।
इससे बाह्याभ्यन्तर दोनों शुद्धि जरूरी गाते हैं ।। ६
अन्तरंग में मैल आत्मा, लोभ किये से हो जावे।
ऊंचे पद पर चढ़कर मुनि भी सूक्ष्म लोभ से गिरजावें।
लोभी पुरुष स्वार्थवश योग्या योग्य विचार न करते हैं।
कुशील चोरी झूठ रु हिंसा करने में नहिं डरते हैं।
लोभ पाप का बाप फंसे सो दुर्गति पड़ दुःख पाते हैं ।।७
लोभी पुरुष लोक तीनों की संपति निज घर चाहता है।

पुन्य विना नहिं मिले, कहो क्या कोई सम्पत्ति पाता है।
सम्पति जो है जितनी जग में रही रहेगी वही सदा।
फिर बतलाओ सब जीवों को हो क्यों इच्छा पूर्ति कदा।
बुध जन ऐसा सोच हृदय से, तृष्णा भाव घटाते हैं॥८॥
नही मांगते कभी किसीसे कुछ सो आदर पाते हैं।
लेकिन लोभी मांग लोक की, उतर दृष्टि से जाते हैं॥
लोभी स्त्री पुत्र कुटुम्बी, तक सों कपट रखें भाई।
तज लज्जा सहैं शीत उष्ण, भय भूख विदेशों में जाई॥
भक्ष्याभक्ष्य करे लोभी, भर पेट नाज नहीं खाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥९
यद्यपि सब प्रत्यक्ष देखते, साथ नहीं कुछ लाते हैं।
मरते हैं तब धन सारे पर यहीं पड़े रह जाते हैं॥
फिर भी लोभ तजे नहिं मूरख तृष्णा नित्य बढ़ाते हैं।
आत्म भाव को तजकर प्राणी आश्रव बंध कराते हैं॥
आशायां परम दुःखम् कई, नीति कार बतलाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटातेहैं॥ १०
हित वाछंक जे जीव लोभ को त्याग शौच बतलाते हैं।
भोजन वसन देह धन जन की नहीं लालसा लाते हैं॥
भ्रमण दुःख से डरे सोई नित शौच भाव रखते भाई।

शुद्ध भावनाओं से मरकर, मेंढक भी सद्गति पाई ॥
शिव नारायण शौच भाव वाले ही मुक्ति पाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥११

उत्तम संयम धर्म की लावनी

आत्म स्वभाव छठा शास्त्रों में संयम धर्म बताया है।
इन्द्रिय का करना निरोध, यह यह संयम रूप सुनाया है ॥
जीवों की रक्षा में तत्पर, मन को विषयों से रोके।
सभी जीव के द्रव्य प्राण, या भाव प्राण तक को पोखे ॥
ऐसा जे जग जीव करें, बरताव मुक्त हो जाते हैं।
दश लक्षणको धारे सो, निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ।१
जड़ इन्द्रिय सब नाम कर्म के, उदय प्राप्त होते भाई।
विषय इन्हों के अन्तराय कर्मानुसार जिनवर गाई ॥
जैसा २ क्षयोपशम हो, वही प्राप्त हो जाती है।
ये सब जड़ हैं, इन्हें भोगने में जड़ता आजाती है ॥
चेतन आत्म स्वरूप विषय सेवन विपरीत बताते हैं ॥२॥
कर्म जनित इन उपाधियों से, भिन्न स्वरूप सुनो भाई।
दर्शन ज्ञान अनंत सुख वीर्यादि भाव अरुथिरताई ॥
निज स्वभाव में रमने वाला, जड़ पुद्गलका मेल हुआ।
विषयो की इच्छासे भूला, निज स्वभाव बहु भ्राप्त हुआ ॥

फिरे अनादि अनन्त काल से, जग में भ्रमण कराते हैं ॥३

सुर नर नरक योनि पशु पाई, लख चौरासी में अटका।
इकसौ साढ़े निन्याणवें यह लच्च कोटि कुल में भटका ॥
जन्म मरण नाना प्रकार के, कष्ट अनेकों ही पाये।
विषय तजे बिन किसी जीवका, आत्म अनुभव आये ॥
देहादिक जड़ द्रव्यों से. तज नेह शुद्ध हो जाते हैं ॥४॥
हीनाचारी पुरुष विषय सेवन में आनन्द पाते हैं।
इसीलिए वे ऐसे मिथ्या श्लोक बनाते हैं ॥
जब तक जीना सुखसे जीना कर्ज कर घृत पी जाना।
गात भस्म होजाने पर फिर हो न यहां आनाजाना ॥
लेकिन ऐसे विचार वाले, हमको दुखी दिखाते हैं।
दश लच्चणको धारेसो निश्चय भवभ्रमण मिटाते है ॥
अग्नि मांहि ज्यों २ ईंधन, और ज्यों २ घृत डाला जावे।
त्यों २ बढती उसी तरह मन विषय चाह नित सरसावे ॥
अथवा जैसे खाज खुजाने पर सुख सा अनुभव होवे।
परन्तु पीछे खुजली वाला, बढै रोग तब पछतावे ॥
उसी तरह से चाह बंधै, फिर नीच गोत्र बंध जाते हैं ॥६
विषयी को आतिश गर्मी परमा सुजाक भी हो जावे
गात शिथिल हो कांति बिगड़ अन्दरको आंखे घुस जावे ॥

दृष्टि मंद पड़ जाय कान से, कम सुनने लग जाते हैं।
बहे नाकसों श्लेष्म लार मुंह सों टपकाते जाते हैं।
इससे भी हो हीन दशा, ऐसा बुधजन फरमाते हैं ॥७॥
सूख जाय सब गात हाड़ पसली दिखने लग जाती है।
रक्त मांस वीर्यादि नाश हो नामर्दी आ जाती है।
द्रव्य नाश परतीत उठे सब घृणाभाव से लखते हैं।
फिरें उड़ाते सदा मक्खियां भीख मांग फल चखते हैं।
विषयों के सुख चण भंगुर हैं, ज्ञानी मन नहिं भाते हैं।
दश लचण को धारै सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥८॥
भ्रमर नासिका हाथी मैथुन कर्ण वशी मृग दुख पावै।
नेत्र वशी हो नशि पतंग जिव्हा वश मछली फंस जावै।
एकेन्द्रिय के विषय भोगने वाले प्राण गमाते हैं।
फिर कैसे बच सके विषय जो पांचो को चित लाते हैं।
सुखाभिलाषी पुरुष विषय वश घूंट समझ छिटकाते हैं।
दश लचण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥९॥
उत्तम कुल नर देह दीर्घ आयु सत्संगति का पाना।
गात निरोगी विद्या स्त्री पुत्रादिक वैभव नाना।
दुर्लभ है ये रत्न जिस तरह सागर में राई दाना।
करले हित कुछ फेर नहीं, हो बार बार नर भव पाना।
बुद्धिमान जे पुरुष विषय तज, संयम में चित लाते हैं।

दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१०॥

संयम के दो भेद प्राण अरु इन्द्रिय संयम बतलाया।
छहों काय के जीवों की रक्षा करना पहला गाया।
बाह्य इन्द्रियों के विषयों के सेवन से जो नर रोके।
अंतरंग में विषयों की इच्छा, निरोध दूजा पोखे।
अन्तरंग की शुद्धि बिना सब बाह्य अकारथ जाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥११॥

इसी तरह से संयम के दो भेद, और भी बतलाये।
पहला संयम सकल दूसरा, देश जिनागम ने गाये।
इन्द्रिय के सब त्याग विषय, छह काय जीवसों अनुरागे।
काय वचन मन अनुमोदन, कृत कारित से हिंसा त्यागे।
संयम सकल यही कहलावे, धारक शिव सुख पाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१२॥

निज शक्ति अनुसार नियम कर परिमित भोजन करते हैं।
संकल्पी हिंसा थावर जीवों तक की से जो डरते हैं।
यही देश संयम कहलाता, क्रम क्रम से जो करते हैं।
कर्म काट के जग के अन्दर, निश्चय शिवतिय वरते हैं।
शिवनारायण कहैं संयमी, सिद्ध पुरुष हो जाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१३॥

उत्तम तप धर्म की लावनी

धर्म सातमां तप बतलाया आतम का हितकारी है।
सुर नर मुनि जन हार गये कह कह कर महिमा भारी है
लौकिक या परलौकिक सुख की चाह रहित तप करते हैं।
शत्रु मित्र सुख दुख यश निन्दा का न ध्यान मन धरते हैं।
कंचन कांच मशान महल में, जो समभाव धराते हैं।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१॥
इच्छाओं का कर निरोध जो मन-मतंग वश करते हैं।
मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन मंत्र सुमरते हैं।
मंत्र तंत्र साधन बे तप नहिं कर अघ कर्म कमाते हैं।
वे ही जग के जीव कर्म अरि जीत सिद्ध पद धरते हैं।
जे शठ तप प्रख्याति लाभ यश की इच्छा से करते हैं।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं ॥२॥
रात्रि दिवस हम रहे देखते, गात भस्म सिर बोझ धरें।
जटा बढावें औंधे लटकें, कान छिदा बहु रूप करें।
पंचअग्नि तप तपें केई कंटक आसन पर सोते हैं।
भला न हो इनसे आतम का, वृथा समय को खोते हैं।
पांचों इन्द्रिय का निरोध, पंचाग्नि तप बतलाते हैं।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥३॥
ऐसे तप नहिं तप कहलावें, परिग्रह नित्य बढ़ाते हैं।

नित्य नया आरंभ बंधे मन में चिन्ता उपजाते हैं।
हिंसा जीव अनंतों की हो कर्म बंध होता भाई।
फिरें मांगते भीख तपस्वी, बनकर लाज नहीं आई।
क्रोध मान मन राग द्वेष ऐसे तप से बढ़ जाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥४॥
आतम के हित वांछिक प्राणी, आरंभ हिंसा को त्यागे।
परिग्रहों से रहित होय, पुनि आत्म ध्यान में अनुरागें।
पांचो इन्द्रिय का निरोध रूपी पंचाग्नी तपते हैं।
वे ही सच्चे साधु जगत में कर्म उन्हीं के खपते हैं।
अन्तरंग अरु बाह्य भेद दो इस प्रकार बतलाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो, निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं।५॥
अंतरंग तप प्रायश्चित अरु वैयावृत्य विनय भाई।
स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यान यह, जैनागम ने बतलाई।
बाह्य देश के आश्रित, अनशन ऊनोदर वृतपरिसंख्यान।
रस परित्याग विविक्तशय्यासन, पुनि है कायक्लेश महान।
इस प्रकार से द्वादश अन्तर्भेद सूत्र में गाते हैं।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥६॥
तप का अभिलाषी प्राणी तज ममत भाव फिर यह त्यागो।
क्रोध मान माया तृष्णा आशा प्रमाद नहिं अनुरागो।
मद मत्सर अरु लोभ तजे तजकर जे तप उपजाते हैं।

निश्चय वे जग जीव पार भव सागर से हो जाते हैं।
सच्चा आत्म स्वभाव तभी जब उपजे तप शुभ गाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥७॥
सहन शील संतोष क्षमा दृढ़ता तप के साधन भाई।
बाहुबली सुकुमाल देशभूषण कुलभूषण ऋषिराई।
ऐसे ही तप के प्रभाव से किन किन ने मुक्ति पाई।
हो जिज्ञासा तो देखो निर्वाणकांड में है गाई।
कार्तिकेय स्वामी का कहना तपकर कर्म खपाते हैं दश ॥८
जैसी जिसकी होय शक्ति वह उतना तप साधो भाई।
अंतरंग अरु बाह्य रूप में, बात यहीं सब बतलाई।
यथाशक्ति अनुसार मूढ नर भव पा तप नहिं करते हैं।
चारों गति में सदा काल वे जन्म मरण दुःख भरते हैं।
शिवनारायण कहैं तपस्वी, परमातम पद पाते हैं।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥९॥

उत्तम त्याग धर्म की लावनी

अष्टम आत्म स्वभाव ममत का त्याग सदा बतलाया है।
त्याग धर्म का यह स्वरूप सब, जैनागम ने गाया है।
विषयों की उत्पत्ति वृद्धि, अरु राग ममत को उपजावे।
ऐसे भोजन मिष्ट पुष्ट, उपकरण काम में नहिं लावे।
मनसे इनका त्याग करें, वे त्याग धर्म उपजावें हैं।

दश लच्छ को धारें सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१॥
दान दिये से त्याग होय, तत्त्वार्थसूत्र में गाते हैं।
अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्ग यह दान रूप बतलाते हैं।
वास्तव में है दान त्याग का रूप मुख्य बुधजन गावें।
जो दी जावे वस्तु दान में ममत छूट उससे जावे।
सिद्ध अभीष्ट वस्तु की होकर, आर्तभाव घट जाते हैं ॥२दश
अंतरंग अरु बाह्य दान के, भेद सुनो दो हैं भाई।
रूप उन्हीं का सुनो ध्यान धर, खास बात यह बतलाई।
आत्मा के शत्रु अनादि सों, मोह राग अरु ममताई।
जिनके कारण रहे सदा भय भीत दुःखी आतम भाई।
निर्भय कर सम्बन्ध छुडाना, अंतरंग कहलाते हैं।
बाह्य दान जो पर के हित उपकार अर्थ बतलाते हैं दश॥३॥
औषधि शास्त्र आहार अभय ये चार भाँति के गाते हैं।
इनके भी हैं भेद अनेकों, कारण पा हो जाते हैं।
भक्ति दान करुणा सुकीर्ति, समदान और बतलाते हैं।
कीर्तिदान समदान दोऊ,लौकिक व्यवहार बढ़ाते हैं ॥दश॥४
साधु मुनि साधर्मी श्रावक, वृती पुरुष गुरुजन इनसे।
दर्शन ज्ञान चरित्र वृद्धि हित करें दान हर्षित मनसे।
भक्ति दान कहलाय यही, अब करुणा दान सुनाते हैं।
दुःखित भूखे अंग हीन निसहाय दीन दिखलाते हैं।

हो दयार्द्र दुःख हरे दानकर, करुणा दान बताते हैं।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥५॥
दान कुदान भेद दोनों ही हैं जैनागम में गाये।
भक्ति दान अरु करुणा दोनों ही सुदान ये कहलाये।
है कुदान जो कीर्ति हेत नहि पात्र कुपात्र लखे भाई।
विषय वासना मंद कषाय, आरंभ बधे नित अधिकाई।
ऐसे दान करें सो जग से, नहीं किनारा पाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥६॥
हाथी घोड़े रुपया पैसा, गाय भैंस देते भाई।
रथरु पालकी भूमि भवन भामिनि कुदान आगम गाई।
अल्प बुद्धि ढोंगी इनको कह दान करें करवाते हैं।
पात्र कुपात्र लखे बिन देकर, सिर पर बोझ बढाते हैं।
पात्र दान देने वाले ही स्वर्ग मोक्ष सुख पाते हैं॥७॥दश०
प्रोषधशाला चैत्यालय, वस्तिका धर्मशाला जानो।
विद्यालय अरु उपकरणादिक, ये सुदान मन में आनो।
छात्राश्रम पुनि अनाथ आश्रम, अस्पताल का खुलवाना।
शास्त्रालय सिद्धांत प्रकाशित कर, अमूल्य ही बटवाना।
अल्प मूल्य में वितरण करना, हिरण्यदान कहलाते हैं।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं।८
दीन दुःखी या विद्यार्थी को, शीतकाल में वस्त्र भरे।

पात्र और साधर्मी जन के तीर्थ गमन का भार धरे।
इनके साधन वाहनादि रुपया पैसा जो खर्च करे।
कर्म काट वह जीव जगत के निश्चय हो अघ कर्म हरे।
शुद्ध भाव धर पात्र देख जो, दान करें सुख पाते हैं।
दश लक्षण को धारें सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं ॥९
दान आत्म का निज स्वभाव मोहादि भाव उलटे जानो।
पा पुद्गल सम्बन्ध हुआ, लवलीन यही चित में आनो।
मेरा मेरा करे इष्ट में, हर्ष अनिष्ट दुःखी भाई।
पर यह सारी पुण्य पाप की, परिणति श्री जिनवर गाई।
वसुमद का परिहार ममत सब त्याग मुक्ति पद पाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं।१०
सज्जन कई ऐसे लखि पाये, ममत त्यागना चाहते हैं।
परन्तु उनके वाधिक चारित, मोह कर्म हो जाते हैं।
भाव विरक्त जल कमलवतधर, भोगे भोग न ललचावें।
समय समय पर यथा शक्ति वे शनैः शनैः तजते आवे।
विन संक्लेश भाव से जे जन, अपनी शक्ति बढाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय, भव भ्रमण मिटाते हैं।११
यथा शक्ति जे दान निरंतर नम्र भाव से करते हैं।
किसी समय में कारण पावें जीव मुनिव्रत धरते हैं।
धन का संचय करें रात दिन दान नहीं कंजूस करें।

विन कारण जग में हो निन्दा, मर कर योनि सर्प धरें।
यदि देने को कुछ नहिं हो, प्रिय वचन भी दान कहाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं।१३
उत्तम दानी पुरुष दान कर, गर्व नहीं उपजाते हैं।
गरव करे सो मूरख मरकर, गज की योनि पाते हैं।
जिनको दान देय उनको भी, हीन नहीं मन में धारे।
सोचे ऐसी बात मेरे ये तो उपकारी हैं प्यारे।
लेकर हमसे दान हमारे, सब अघश कर्म नशाते हैं॥१३द०
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव को देख सुजन जो दान करे।
निश्चय ही वे जीव जगत के, अल्प समय में मोक्ष वरे।
जो नहिं देते दान मूढ वे निज आतम को ठगते हैं।
मोह कर्म का तीव्र बधंकर, नर्क निगोद बिलखते हैं।
शिवनारायण कहे दान से स्वर्ग मोक्ष सुख पाते हैं।
दश लक्षण को धारें सो, निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं।१४

उत्तम आकिंचन धर्म की लावनी

नवमा आकिंचन्य धर्म प्रख्यात जगत में है भाई।
महिमा है इसकी महान, जिनदेव जिनागम में गाई॥
किंचित भी न परिग्रह होता, आकिंचन कहलाता है।
इसका धारी महामुनि हो, जगद्वंद्य हो जाता है।
इससे आतम के हित वांछक, आकिंचन चितलाते हैं॥१द०

परिग्रहों का त्याग जगत में, आकिंचन उपजाता है।
परिग्रहों की व्याख्या यों तत्वार्थसूत्र बतलाता है॥
मूर्च्छा परिग्रहः अर्थतः ममता, परिग्रह कहलावे।
कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में विस्तृत वर्णन सब मिल जावे॥
उसही के नुसार यहां, संक्षिप्त रूप समझाते हैं॥२॥द०
धन धान्यादिक बाह्य वस्तुओं का अभाव नहिं कहलावे।
आकिंचन्य तो ममत वास्तवि : तजे वही नर उपजावे॥
यों तो फिर बालक पशु पक्षी निर्धन जंगली भील रहे।
कहलावें क्या परिग्रह त्यागी वे भी तो सब नग्न रहे॥
लेकिन ऐसा हो नहि सकता त्याग भाव नहि पाते हैं॥३द०
तीव्र उदय लाभान्तराय वश परिग्रह इन्हें अप्राप्त रहा।
तो भी उनके हृदय बीच, इच्छा का अंकुर व्याप्त रहा॥
होते हुए अभाव तोहू, बहु परिग्रही कहलाते हैं।
क्योंकि निरन्तर चाह दाह में दहे शांति नहिं पाते हैं
भेद परिग्रह के दो आभ्यन्तर अरु बाह्य बताते है॥४॥द०
क्रोध मान माया अरु तृष्णा, रागद्वेष मिथ्यात्व रहे।
हास्य शोक भय रत्यरति पुनि वेद जुगुप्सा आदि कहे॥
चौदह आत्म विभाव यही बस अंतरंग कहलाते हैं।
बाह्य कहे धन धान्य क्षेत्र वास्तु हिरण्य बतलाते हैं।
सुवर्ण दासी दास कुप्य भाण्डे दश भेद सुनाते हैं॥५॥दश

हो इच्छा भोगोपभोग की, मन में वाछा बढ़े भाई ।
इससे अंतरंग त्यागे बिन, वाछा नाश नहिं हो पाई ॥
पर इसमें भी है मतलब की, बात समझ में यह आई ।
अंतर भाव मलिन का कारण बाह्य परिग्रह बतलाई ॥
इससे बाह्याभ्यन्तर तजना ही आवश्यक गाते हैं ॥६॥द०
एक 'गोटो मात्र परिग्रह मन में मलीनता लावे ।
खोजाने फट जाने मैली होने पर मन नहिं भावे ।
उसे स्वच्छ करने करवाने या नवीन पाना चाहे ।
चिन्ता उपजे कारण पा मन रागद्वेष भी हो जावे ।
तिलतुषमात्र परिग्रह तज मुनि निर्विकार बन जाते हैं ।७द०
त्याग सर्वथा करने की यदि शक्ति नहीं होवे भाई ।
तो निज शक्त्यनुसार परिग्रह सीमा करना बतलाई ॥
निर्विकल्प निज आत्मध्यान, निर्मल भावों बिन नहिं होवे ।
परिग्रह का नहिं त्याग करें सो जन्म मरण के दुख होवे ।
बाह्य नग्न अरु शुद्ध, मलिन अंतर रख नर्क लहाते हैं ॥८द०
नग्न दिगंबर साधु देख मन में जो यह शंका करते ।
परिणामों में हो विकार यों, जिन मंदिर पग नहिं धरते ।
पर वे दें अब जवाब शिशु थन पकड़ पान पय करता है ।
कन्या भगिनी देख नग्न क्या चित विकार कोई धरता है ।
पशु पक्षी सब रहे नग्न, नाहें सदा काम उप जाते हैं॥ ६द०

जब शिशु स्तन पकड़े माता के हृदय विकार नहिं होवे ।
कन्या भगिनी नग्न लखे तब भी मन मैल नहिं जोवे ॥
पशु पक्षी भी नग्न काम रत समय समय पर जोते हैं ।
तो फिर कैसे नग्न साधु लख क्यों विकार मन होते हैं ॥
होते हैं उत्पन्न नग्न नग्न सिद्ध हो जाते हैं ॥१०॥दश०
मन अरु वच । काय कृत कारित अनुमोदन सो जे भाई ।
परिग्रहों का त्याग सर्वथा करे बहु सुख अधिकाई ॥
फिर हम भी क्यों करें नहीं दुर्लभ है नर देही पाई ।
विषयों में क्यों फंसे रहे निश दिन जो हैं दुखदाई ॥
शिवनारायण कहे विषय त्यागी परमात्म कहाते हैं ।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥११॥

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की लावनी

दशवां ब्रह्मचर्य बतलाया धर्म आत्म का हितकारी ।
इसके साधक रहैं सुखी यश कीर्ति बधै जग में भारी ।
ब्रह्मणि चर्यते इति ब्रह्मचर्यं कार्तिकेय मुनि ने गाया ।
आगे इसका रूप सुनो संक्षिप्त सार यहां बतलाया ।
ब्रह्म अर्थ है आत्मचर्य का अर्थाचरण बताते हैं ।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥१॥
आत्म भाव में जे जन निशि दिन जे जन लीन रहे भाई ।
मैथुन का जो करें त्याग वे ब्रह्मचर्य लें उपाजाई ॥

पुद्‌गलादि पर वस्तु भाव इनके विभाव बुध जन गावें।
जब तक इन में आत्म लिप्त शुद्धात्म रूप नहिं लखि पावे ॥
इन विभाव भावों को तज जो आत्म स्वरूप जगाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते है ॥२॥
इन्द्रियों के विषयों में रहना लीन महा दुःख दाई है।
ज्यों ज्यों भोगो भोग विषय से ममता बढ़ती पाई है ॥
स्थूल रूप में स्पर्शन्द्रिय के विषय अब्रह्म कहाते हैं।
क्योंकि अन्य के सेवन में नहिं इतना अपयश पाते हैं ॥
इसीलिये इस व्रत के धारी नहीं निज गात सजाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भवभ्रमण मिटाते हैं ॥३॥
अंजन मंजन वस्त्राभूषण राग रंग शृंगार भला।
पौष्टिक भोजन राग कथा सीनेमा गंदी चित्रकला ॥
ये सब कामोत्तेजक वर्जित इसीलिये बतलाई है।
इनके इच्छुक जीवों में काम भाव अधिकाई है ॥
जे नर नारी तजें इनको वे जग में पूज्य कहाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥४॥
निशिदिन हम तुम सभी देखते कामी अपयश पाते हैं।
विरले विरले इसके वश हो जग में जूते खाते हैं ॥
रामचन्द्र से न्याई नृप दारा वियोग लखि बिललावे।
श्रीकृष्ण राधा पर मोहित हो उसको ठगने जावे ॥

काम वासना अति प्रबल बिरले ही बचने पाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥५॥
शिवजी पार्वती को धारण अर्द्ध अंग करवाते हैं।
धीमर कन्या पर मोहित हो शांतनु ब्याह रचाते हैं ॥
महर्षि पारासर धीवर कन्या को अंग लगाते हैं।
व्यास महर्षि चण्डाली पर मोहित हो अपनाते हैं ॥
ऐसे ऐसे प्रबल तपस्वी काम जीत नहिं पाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥६॥
और अनेकों कथा पुराणों में हमने देखी भाई।
कामबाण से पीड़ित होकर केईयों ने दुर्गति पाई ॥
शूरवीर जो प्रबल शत्रु के मुष्टि मात्रसों प्राण हरें।
पकड़ सिंह के दांत उखाड़ें सर्प पांव तल मसल धरें ॥
निज नख सो गज कुंभ विदारें ऐसे तक नश जाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भवभ्रमण मिटाते हैं ॥७॥
एक बात हम नित्य प्रत्यक्ष देखते हैं भाई।
विद्या शास्त्र कला कौशल सिखलाये तोहुए नहिं आई ॥
लेकिन काम बिना शिक्षा बिन सिखलाये से ही आवे।
इसका सेवी खान पान तज निद्रा तक नहिं ले पावे ॥
विहल होय नाचे गावे रोवे लज्जा विसराते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥८॥

वासुपूज्य पुनि मल्लिनाथ श्री नेमि जिनेश्वर मन आनो।
पार्श्वनाथ अरु महावीर पाचों तीर्थंकर पहचानो॥
इसी तरह श्री जम्बूस्वामी अंतिम केवल के धारी।
तुरत ब्याही रात बसे में जीत तजी चारों नारी॥
रख अखण्ड निज ब्रह्मचर्य प्रातः दिक्षा ले जाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥९॥
हो नही इतनी शक्ति जिन्हों में वे निज शक्ति समान धरें।
पर दारा पर पुरुष त्याग निज पति दारा संतोष करें॥
कहलावें वे शीलवान उनका यश सुर नर गाते हैं।
सेठ सुदर्शन को सुर शूली से मखतूल बिठाते हैं॥
शील प्रताप भील सदृश भी जगत गुरू हो जाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं॥१०॥
पाण्डव से बलवान तथा श्री रामचन्द्र जैसे न्याई।
श्रेणिक जैसे सभा चतुर श्री बाहुबली से तपसाई॥
अभयकुमार दयालु चेलनासी विदुषी है बतलाई।
सती अंजना रयनमंजूषा सीता शीलवती गाई॥
द्रोपदि मैनासुन्दरि ये सब शीलधार सुख पाते हैं॥११दश
विद्याधर रावण नृप कीचक शील भाव को बिसराया।
राज्य संपदा रिद्धि सिद्धि हैं नाश नर्क तिसरा पाया॥
दिखे सुकोमल अरु अति सुन्दर गात नारि का जो भाई।

अस्थि मांस अरु रुधिर पीव मल मूत्र शुक्र है अधिकाई ॥
ऐसे घृणित द्रव्य काया में राच नर्क गति जाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१२॥
इससे सद्गति बांछक प्राणी ब्रह्मचर्य चित धरते हैं।
चादर चाम चढ़ी है काया सोच ममत नहिं करते हैं ॥
करें सर्वथा त्याग तिया का कीर्ति बढ़े उनकी भारी।
निज दारा पति तुष्ट रहें वे भी हों सुख के अधिकारी ॥
इस से ब्रह्मचर्य चितधर धरतें सो मुक्ति पाते हैं ॥१३ द०
कृष्ण पक्ष आसोज तिथी एकादशि शुक्र दिवस जानो।
विक्रमाब्द उन्नीस सहस सित्तान् संवत् पहिचानो ॥
होल्कर वंश प्रदीप भानु वसुधा यशवंत नृपति मानो।
स्वर्गोपम मालव मेदिनि पर इन्द्रपुरी नगरी जानो ॥
अन-धन से परि पूर्ण प्रजा जन नित्य निरा सुख पाते हैं।
दश लक्षण को धारे सो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१४
वैश्य वर्ण प्राग्वाट जाति में जन्म लिया मैंने भाई।
पुण्योदय से जैनागम सत् संगमिला अति सुखदाई ॥
आगम के अनुकूल लावनी रची भूल बुध क्षमा करो।
लेकिन मन में धार धर्म दस आतम के सब मैल हरो ॥
शिव नारायण भने धर्मदस धारक सिद्ध कहाते हैं।
दस लक्षणको धारेसो निश्चय भव भ्रमण मिटाते हैं ॥१५॥

सामायिक पाठ

१ प्रथम प्रत्याख्यान कर्म

काल अनंत भ्रम्यो जगमें सहिये दुख भारी। जन्म मरण नित किये पापको ह्वै अधिकारी॥ कोटि भवांतरमाहिं मिलन दुर्लभ सामायिक। धन्य आज मैं भयो योग मिलियो सुखदायक ॥१॥ हे सर्वज्ञ जिनेश! किये जे पाप जु मैं अब। ते सब मन-वच-काय-योगकी गुप्ति बिना लभ॥ आप समीप हजूर माहिं मैं खड़ो खड़ो सब। दोष कहूं सो सुनो करो नठ दुःख देहिं जब ।२। क्रोध मान मद लोभ मोह मायावशि प्रानी। दुःखसहित जे किये दया तिनकी नहिं आनी॥ बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय बि ति चउ पंचेन्द्रिय। आप प्रसादहिं मिटै दोष लग्यो मोहि जिय ॥३॥ आपसमें इकठौर थापकरि जे दुख दीने। पेलि दिए पगतलें दाबिकरि प्राण हरीने॥ आप जगतके जीव जिते तिन सबके नायक। अरज करूं मैं सुनो दोष मेटो दुखदायक ।४। अंजन आदिक चोर महा घनघोर पापमय। तिनके जे अपराध भये ते क्षमा क्षमा किय॥ मेरे जे अब दोष भये ते क्षमहु दयानिधि। यह पडिकोणो कियो आदि षट्कर्ममाहिं विधि ॥५॥

२. द्वितीय प्रत्याख्यान कर्म ।

जो प्रमादवशि होय विराधे जीव घनेरे । तिनको जो अपराध भयो मेरे अघ ढेरे ॥ सो सब झूठो होहु, जगत्पतिके परसादै । जा प्रसाद तें मिलै सर्व सुख दुःख न लाधै ॥६॥ मैं पापी निर्लज्ज दयाकरि हीन महाशठ । किये पाप अघ ढेर पापमति होय चित्त दुठ ॥ निंदूं हूँ मैं बार बार निज जियको गरहूँ । सब विधि धर्म उपाय पाय फिर पापहि करहूँ ॥७॥ दुर्लभ है नरजन्म तथा श्रावक कुल भारी । सतसंगति संयोग धर्म जिन श्रद्धा धारी ॥ जिन वचनामृत धार समावर्तै जिनवानी । तोहू जीव संघारे धिक धिक धिक हम जानी ॥८॥ इंद्रिय-लम्पट होय खोय निज ज्ञान जमा सब । अज्ञानी जिमि करै तिसी विधि हिंसक ह्वै अब ॥ गमनागमन करंतो जीव विराधे भोले । ते सब दोष किये निंदूं अब मन वच तोले ॥९॥ आलोचनविधि थकी दोष लागे जु घनेरे । ते सब दोष विनाश होहु तुम तें जिन मेरे ॥ बारबार इस भांति मोह मद दोष कुटिलता । ईर्षादिकतें भये निंदिये जे भयभीता ॥१०॥

(नोट—यहां आलोचना पाठ पढ़ना चाहिये ।)

३. तृतीय सामायिक भाव कर्म ।

सब जीवनमें मेरे समताभाव जग्यो है । सब जिय मोसम

समता राखो भाव लग्यो है आर्त रौद्र द्वय ध्यान छांडि करहूं सामायिक । संयम मो कब शुद्ध होय यह भाव-बधायक ॥११॥ पृथ्वी जल अरु अग्नि वायु चउ काय वनस्पति । पंचहि थावरमांहि तथा त्रस जीव बसैं जित ॥ बेइंद्रिय तिय चउ पंचेन्द्रियमांहि जीव सब। तिन तें क्षमा कराऊं मुझपर क्षमा करो अब ॥१२॥ इस अवसरमें मेरे सब सम कंचन अरु तृण । महल मसान समान शत्रु अरु मित्रहि सम गण ॥ जामन मरण समान जानि हम समता कीनी । सामायिकका काल जितै यह भाव नवीनी ॥१३॥ मेरो है इक आतम तामें ममत जु कीनो । और सबै मम भिन्न जानि समतारस-भीनो ॥ मात पिता सुत बंधु मित्र तिय आदि सबै यह । मोतैं न्यारे जानि जथारथ रूप करयो गह ॥१४॥ मैं अनादि जगजालमांहि फंसि रूप न जाण्यो । एकेंद्रिय दे आदि जंतुको प्राण हराण्यो । ते सब जीवसमूह सुनो मेरी यह अरजी । भवभवको अपराध छिमा कीज्यो करि मरजी ॥१५॥

४. चतुर्थ स्तवनकर्म

नमूं ऋषभ जिनदेव अजित जिन जीति कर्मको । सम्भव भवदुख-हरण करण अभिनंद शर्म को ॥ सुमति सुमति दातार तार भवसिंधु पार कर । पद्मप्रभ पद्माभ भानि

भवभीत प्रीति धर ॥१६॥ श्रीसुपार्श्व कृतपाश नाश भव जास शुद्ध कर। श्रीचन्द्रप्रभ चन्द्रकांतिसम देह कांति धर ॥ पुष्पदंत दमिदोषकोश भविपोष रोषहर। शीतल शीतल करण हरण भवताप दोषहर ॥१७॥ श्रेयरूप जिनश्रेय ध्येय नित सेय भव्यजन। वासुपूज्य शतपूज्य वासवादिक भवभयहन ॥ विमल विमलमति देन अंतगत हैं अनंत जिन। धर्म शर्मशिवकरण शांतिजिन शांतिविधायिन ॥१८॥ कुंथ कुंथुमुख जीवपाल अरनाथ जाल हर। मल्लि मल्लसम मोहमल्लमारन प्रचार धर। मुनिसुव्रत व्रतकरण नमत सुरसंघहिं नमि जिन। नेमिनाथ जिननेमि धर्मरथमांहि ज्ञानधन।१९ पार्श्वनाथजिन पार्श्व उपलसम मोक्षरमापति। वर्द्धमान जिन नमूं वमूं भवदुःख कर्मकृत ॥ या विधि मैं जिन संघरूप चौबीस संख्यधर। स्तवूं नमूं हूं बारबार वंदूं शिव सुखकर ॥२०॥ वंदूं मैं जिनवीर धीर महावीर सुसनमति। वर्द्धमान अतिवीर वंदि हूं मनवचतनकृत ॥ त्रिशलातनुज महेश धीश विद्यापति वंदूं। वंदौं नित प्रति कनकरूप तनु पाप निकंदूं।२१। सिद्धारथ नृपनंद द्वंददुख दोषमिटावन, दुरित दवानल ज्वलित ज्वाल जगजीव उधारन। कुंडल पुर किय जन्म जगत जिय आनंदकारन। वर्ष बहत्तर आयु पाय सब ही दुखटारन ॥२२॥ सप्तहस्त तनु तुंग भंगकृत-

जन्ममरणमय । बालभ्रममय ज्ञेय हेय आदेयज्ञानमय । दे उपदेश उधारि तारि भवसिंधु जीवघन । आप बसे शिवमांहि ताहि वंदौं मनवचतन ॥२३॥ जाके वंदनथकी दोष दुख दूरहि जावै । जाके वंदन थकी मुक्तितिय सन्मुख आवै । जाके वंदनथकी वन्द्य होवें सुरगनके, ऐसे वीर जिनेश वंदि हूं क्रमयुग तिनके ॥२४॥ सामायिक षट्कर्ममाहि वंदन यह पंचम । वंदों वीरजिनेंद्र इंद्रशत-वंद्य वंद्य मम ॥ जन्म मरण भय हरो करो अघ-शांति शांतिमय । मैं अघकोष सुपोष दोषको दोष विनाशय ॥२५

६ छठा कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग विधान करूं अंतिम-सुखदाई । काय त्यजन मम होय काय सबको दुखदाई ॥ पूरब दक्खिन नमूं दिशा पच्छिम उत्तर में । जिनगृह वंदन करूं हरूं भव-पाप-तिमिर मैं ॥२६॥ शिरो नती मैं करूं नमूं मस्तक कर धरिकै । आवर्तादिक क्रिया करूं मनवचमद हरिकै ॥ तीनलोक जिन भवनमाहि जिन हैं जु अकृत्रिम । कृत्रिम हैं द्वय अर्द्ध द्वीपमाहीं वंदों जिम ॥२७॥ आठकोडि परि छप्पनलाख जु सहस सत्याणूं । च्यारि शतक पर असी एक जिनमंदिर जाणूं ॥ व्यंतर ज्योतिषि माहि संख्यरहिते जिनमन्दिर । ते सब वंदन करूं हरहु मम पाप संघकर ॥२८॥ सामायिकसम नाहिं

और कोउ बैरमिटायक ॥ सामायिकसम नाहिं और कोउ मैत्रीदायक ॥ श्रावक अणुव्रत आदि अंत सप्तम गुनथानक । यह आवश्यक किये होय निश्चय दुखहानक ॥२९॥
जे भवि आतमकाज-करण उद्यमके धारी । ते सब काज विहाय करो सामायिक सारी ॥ राग द्वेष मद मोह क्रोध लोभादिक जे सब । बुध 'महाचंद्र' विलाय जाय तातैं कीज्यो अब ॥३०॥

इति सामायिक पाठ समाप्त

सिद्धि-सोपान

जिन वीरों ने कर्म-प्रकृतियों, का सब मूलोच्छेद किया,
पूर्ण तपश्चर्या के बल पर, स्वात्म भाव को साध लिया ।
उन सिद्धों को सिद्धि अर्थ मैं, वन्दूं अति सन्तुष्ट हुआ,
उनके अनुपम गुणाकर्ष से, भक्ति भाव को प्राप्त हुआ ॥१॥
स्वात्म भाव की लब्धि सिद्धि है, होती वह उन दोषों के,[1]
उच्छेदन से आच्छादक जो, ज्ञानादिक-गुण-वृन्दों के ।
योग्य साधनों की सुयुक्ति से,[2] अग्नि-प्रयोगादिक द्वारा,
हेम-शिला से जग में जैसे, हेम किया जाता न्यारा ॥२

---

१ ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म और रागादिक भावकर्म-मलोंके
२ सम्यक् योजना से ।

नहिं अभावमय[1] सिद्धि इष्ट है, नहिं निजगुण विनाशवाली,[2]
सत्‌का कभी नाश नहिं होता, रहता गुणी न गुण खाली।
जिनकी ऐसी[3] सिद्धि न उनका, तप विधान कुछ बनता है,
आत्म नाश-निजगुण विनाशका, कौन यत्न बुध करता है॥३

अस्तु अनादि बद्ध[4] आत्मा है, स्वकृत-कर्म-फल का भोगी,
कर्मबन्ध फल-भोग नाशसे, होता मुक्ति-रमा-योगी।
ज्ञाता द्रष्टा निजतनु-परिमित,[5] संकोचेतर-धर्मा[6] है,
स्वगुण युक्त रहता है, हरदम, ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मा[7] है॥४

इस सिद्धांत मान्यता के बिन, साध्य-सिद्धि नहिं घटती है,
स्वात्मरूपकी लब्धि न होती, नहिं व्रत चर्या बनती है।
बन्ध मोक्ष फल की कथनी सब, कथनमात्र रह जाती है,
अन्त न आता भव-भ्रमणका, सत्य शान्ति नहिं मिलती है।५

जब वह आत्मा मोहादिक के, उपशमादिको पा करके,

---

१ दीपनिर्वाणादिकी तरह आत्माके नाशरूप। २ ज्ञानादि विशेष गुणोंके अभावको लिए हुए। ३ अभावमय अथवा निजगुणों के विनाशरूप। ४ कर्मसन्ततिकी अपेक्षा अनादिकालसे बंधा हुआ—अर्थात् प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध ऐसे चार प्रकार के बन्धनों से युक्त। ५ अपने शरीर जितने आकार वाला। ६ संकोच-विस्तारके स्वभाव को लिए हुए। ७ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप-अर्थात् द्रव्यदृष्टि से सदा स्थिर रहनेवाला एवं नित्य और पर्याय दृष्टिसे उपजने तथा विनशनेवाला एवं अनित्य।

बाहर में गुरु-उपदेशादिक श्रेष्ठ निमित्त मिला करके।
विमल-सुदर्शन-ज्ञान-चरण मय अपनी ज्योति जगाता है,
उस सुशक्ति[१] के प्रबल घातसे[२] घाति-चतुष्क[३] नशाता है।६

तब वह भासमान होता स्थिर, अद्भुत-परमसुगुण-गणसे।
प्रकटित हुआ अचिन्त्य सार है जिनका दुरित[४] विनाशनसे,
केवल ज्ञान सुदर्शनसे अतिवीर्य प्रवरसुख समकित से,
शेष[५] लब्धिसे भामण्डलसे, चामरादिकी सम्पत् से ॥७॥

सबको सदा जानता-लखता युगपत् व्याप्त सुतृप्त हुआ,
घन अज्ञान मोह तम धुनता सबका सब निःस्वेद[६] हुआ।
करता तृप्त सुवचनामृत से; सभाजनोंको भी करता,
ईश्वरता सब प्रजा जनोंकी, अन्य ज्योति[७] फीकी करता ॥८

---

१ शक्ति=प्रहरण, आयुधविशेष। २ मूलोच्छेद करने वाले समर्थ प्रहार से। ३ घातिकर्मों का चतुष्टय-अर्थात् जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणोंको घातनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय नामके चार घातिया कर्म अपनी क्रमशः ५, ९, २८, ५ ऐसे ४७ उत्तर प्रकृतियों के साथ।

४ महापापरूप घातिकर्मों के क्षयसे। ५ नवकेवल-लब्धियों में से दान, लाभ, भोग, उपभोग, और चारित्र नामकी शेष लब्धियोंसे ६ श्रमजल (पसेव) रहित एवं निष्खेद।

७ परमात्मज्योतिसे भिन्न दूसरी संपूर्ण ज्योति अथवा दूसरे की-कल्पित ईश्वरों, देवतान्यों और आत्मभिज्ञानियों आदि की—ज्ञानज्योति एवं प्रभा।

आत्माको आत्मस्वरूपसे, आत्मा में प्रतिक्षण ध्याता।
हुआ सातिशय[1] वह आत्मा यों, सत्य स्वयम्भू पद पाता,
वीतराग अर्हत् परमेष्ठी आप्त-सार्व[2] जिन कहलाता।
परं ज्योति सर्वज्ञ कृती[3] प्रभु जीवन्मुक्त नाम पाता ॥१०॥
शेष निगड सम[4] अन्य प्रकृतियां फिर छेदता हुआ सारी,
आयु वेदनी-नाम गोत्र हैं मूल प्रकृतियां[5] जो भारी।
उन अनन्त दृग बोध-वीर्य-सुख, सहित शेष क्षायिक गुणसे,
अव्याबाध[6] अगुरु लघुसे[7] औ सूक्ष्मपना[8] अवगाहनसे[9]।
शोभमान होता तैसे ही अन्य गुणोंके समुदयसे,
प्रभवित हुए जो उत्तरोत्तर कर्म प्रकृतिके संक्षयसे।
क्षणमें उर्ध्व गमन स्वभाव से, शुद्ध कर्म-मलहीन हुआ,
जा बसता है अग्रधाममें,[10] निरुपद्रव-स्वाधीन हुआ ॥११॥

---

१ अतिशयसहित, महान्, महात्मा।

२ सबके लिए हितरूप। ३ कृतार्थ, पवित्र संपूर्ण हेयोपादेयके विवेकसे युक्त। ४ बेड़ियों की तरह बन्धनरूप। ५ इन चार अघातिकर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ क्रमशः ४, २, ९३, २ ऐसे १०१ हैं। ६ वेदनीयकर्माश्रित साता-असातारूप आकुलताके अभाव का नाम 'अव्याबाध' गुण है। ७ गोत्रकर्माश्रित उच्चता-नीचता के अभाव का नाम 'अगुरुलघु' गुण है। ८ नाम कर्माश्रित इन्द्रिय-गोचर स्थूलता के अभावको 'सूक्ष्मत्व' गुण कहते हैं। ९ आयु-कर्माश्रित परतन्त्रताके अभाव को 'अवगाहन' गुण कहते हैं।

१० लोक-शिखर के अग्र भाग में।

मूलोच्छेद हुआ कर्मों का बन्ध उदय सत्ता न रही,
अन्याकार[१] -ग्रहणका कारण रहा न तब इससे कुछ ही।
न्यून चरम[२] तनु-प्रतिमाके सम, रुचिराकृति[३] ही रह जाता,
और अमूर्तिक वह सिद्धात्मा निर्विकार पदको पाता ॥१२

क्षुधा-तृषा श्वासादि काम-ज्वर, जरा मरणके दुःखोंका,
इष्ट वियोग प्रमोह आपदाऽऽदिक के भारी कष्टों का।
जन्म-हेतु जो उस भव[४] के क्षयसे उत्पन्न सिद्ध सुखका,
कर सकता परिमाण कौन है लेश नहीं जिसमें दुखका ॥१३

सिद्ध हुआ निज उपादान से,[५] खुद अतिशयको प्राप्त हुआ,
बाधा-रहित विशाल इन्द्रियोंके विषयोंसे रिक्त[६] हुआ।
बढ़ता और न घटता जो है, प्रतिपक्षी[७] से रहित सदा,
उपमा-रहित अन्य द्रव्योंकी नहीं अपेक्षा जिसे कदा ॥१४॥

सुख उत्कृष्ट अमित शाश्वत वह, सर्व कालमें व्याप्त हुआ,
निरवधिसार[८] परम सुख इससे,उस सुसिद्ध को प्राप्त हुआ।
जो परमेश्वर परमात्मा औ देह विमुक्त कहा जाता,

---

१ वर्तमान चरम शरीर से भिन्न आकार को धारण करनेका २ अन्तिम शरीर के प्रतिबिम्ब-समान । ३ देदीप्यमान आकार को लिए हुए। ४ संसार। ५ आत्माके उपादानसे, प्रकृतियोंके उपादानसे नहीं। अर्थात् आत्मा ही उस का मूल कारण है--वही सुखकार्यरूप परिणमता है। ६ शून्य। ७ दुखसे ८ अनन्त महिमयुक्त।

स्वात्मस्थित-कृतकृत्य हुआ निज, पूर्ण-स्वार्थ[1] को अपनाता ।
कर्म नाश से उस सुसिद्ध के क्षुधा तृषाका लेश नहीं,
नाना-रस-युत अन्न पानका, अतः प्रयोजन शेष नहीं ।
नहीं प्रयोजन गन्ध[2] माल्यका, अशुचि-योग जब नहीं कहीं,
नहीं काम मृदु शय्याका जब, निद्रादिकका नाम नहीं ।१६
रोग बिना तत-शमनी[3] उत्तम, औषधि जैसे व्यर्थ कही ।
तम बिन दृश्यमान होते सब, दीपशिखा ज्यों व्यर्थ कही ॥
त्यों सांसारिक विषय सौख्यका, सिद्ध हुए कुछ काम नहीं,
बाधित[4] विषम[5] पराश्रित-भंगुर, बन्ध हेतु जो असुख नहीं ॥
यों अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी, सम्पत् से जो युक्त सदा,
विविध सुनय तप संयमसे हो, सिद्ध न भजते विकृति[6] कदा
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण[7] से तथा सिद्ध पदको पावें,
पूर्ण यशस्वी हुए विश्व-देवाधिदेव जो कहलाते ॥१८॥
आवागमन विमुक्त हुए जिनको, करना कुछ शेष नहीं,
आत्मलीन सब दोष हीन जिनके विभावका लेश नहीं ।

---

१ सम्पूर्ण विभाव-परिणतिको छोड़कर सदा के लिये अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही आत्माका वास्तविक स्वार्थ है-स्वप्रयोजन है । २ कर्पूरादि सुगन्ध द्रव्यों और पुष्पों अथवा पुष्प मालाओंका ३ उस रोगको शान्त करने वाली । ४ बाधा-सहित । ५ एक रस न रहकर वृद्धि-ह्रास को लिए हुए । ६ विक्रिया अथवा विकारको प्राप्त नहीं होते । ७ सम्यक् चारित्र ।

राग द्वेष-भय मुक्त निरंजन,[1] अजर-अमर पद के स्वामी,
मंगलभूत[2] पूर्ण विकसित सत्,चिदानन्द जो निष्कामी १९
ऐसे हुए अनन्त सिद्ध औ, वर्तमान हैं संप्रति[3] जो,
आगे होंगे सकल जगतमें, विबुध जनोंसे संस्तुत जो।
उन सबको नत-मस्तक हो मैं, वन्दूं तीनों काल सदा,
तत्स्वरूपकी[4] शीघ्र प्राप्तिका,इच्छुक होकर सहित मुदा[5] ॥२०
कारण उनका जो स्वरूप है, वही रूप सब अपना है,
उसही तरह सुविकसित होगा, इस में लेश न कहना है।
उनके चिन्तन वन्दनसे[6] निज, रूप सामने आता है,
भूली निज निधिका दर्शन यों,प्राप्ति प्रेम उपजाता है ॥२१
इससे सिद्धभक्ति है सच्ची जननी सब कल्याणोंकी,
श्रेयोमार्ग[7] सुलभ करती बन,हेतु कुशल परिणामोंकी।
कही सिद्धि-सोपान इसी से, प्रौढ़ सुधीजन अपनाते,
पूज्यपादकी सिद्ध भक्ति लख,'युग मुमुक्षु' अति हर्षाते।२२

---

१ कर्ममल-रहित।

२ स्वयं मंगलमय और दूसरों के लिये मंगल के कारण।

३ इस समय (विदेहादिक में)।

४ उनके अनन्तज्ञानादिरूप शुद्ध स्वरूप की।

५ सहर्ष।

६ प्रणाम-स्तुति जयवादादिरूप विनय-क्रिया को वन्दना अथवा वन्दन कहते हैं।

७ कल्याणमार्ग, मोक्षमार्ग।

भूधरकृत-जिन-स्तुति ।

अहो ! जगत गुरु देव, सुनियो अरज हमारी । तुम हो दीनदयाल, मैं दुखिया संसारी ॥१॥ इस भव वनमें वादि, काल अनादि गमायो । भ्रमत चतुर्गति माहिं,सुख नहिं दुख बहु पायो ॥२॥ कर्म महारिपु जोर, एक न कान करे जी । मन मान्या दुख देहिं काहू सों नाहिं डरे जी ॥३॥ कबहूँ इतर निगोद,कबहू नर्क दिखावै । सुरनर पशुगतिमांहि, बहुविधि नाच नचावै ॥४॥ प्रभु ! इनके परसंग, भव भव माहिं बुरेजी । जे दुख देखे देव ! तुमसों नाहिं दुरेजी ॥५॥ एक जनम की बात, कहि न सकौं सुनि स्वामी । तुम अनंत पर जाय, जानत अन्तरयामी ॥६॥ मैं तो एक अनाथ, ये मिलि दुष्ट घनेरे । कियो बहुत बेहाल, सुनियो साहिब मेरे ॥७॥ ज्ञान महानिधि लूटि रंक निबल कर डारयो । इन्हीं तुम मुझ माहिं हे जिन ! अन्तर पारयो ॥८॥ पाप पुण्य की दोइ, पायनि बेरी डारी । तन कारागृह मांहि, मोहि दिये दुःख भारी ॥९॥ इनको नेक बिगार, मैं कुछ नाहिं कियो जी । जिनकारन जग वंद्य बहु-विधि वैर लियो जी ॥१०॥ अब आयो तुम पास,सुनि जिन ! सुजस तिहारो । नीति निपुन महाराज ! कीजे न्याय हमारो ॥११॥ दुष्टन देहु निकार, साधुन को रख लीजे । विनवै भूधरदास, हे प्रभु ढील न कीजे ॥१२॥

भूधरकृत गुरु-स्तुति

वंदौं दिगंबर गुरुचरण जग, तरन तारन जान । जे भरम भारी रोग को, है राजवैद्य महान ॥१॥ जिनके अनुग्रह बिन कभी, नहि कटै कर्म जंजीर । ते साधु मेरे उर बसहु, मेरी हरहु पातक पीर । यह तन अपावन अथिर है, संसार सकल असार । ये भोग विष-पकवान से, बहु भांति सोच विचार । तपविरचि श्रीमुनि वन बसे

सब छांडि परिग्रहभीर। ते साधु मेरे मन बसो मेरी हरहु पातक पीर ॥२॥ जे काच-कंचन सम गिनहिं, अरि मित्र एक स्वरूप। निंदा बड़ाई सारिखी, बनखंड शहर अनूप ॥ सुखदुःख जीवनमरनमें, नहिं खुशी नहिं दिलगीर ते साधु मेरे उर बसो, मेरी हरहु पातक पीर ॥३॥ जे बाह्य परवत बन बसे, गिरिगुफा महल मनोग। सिल सेज, समता सहचरी, शशिकिरन दीपकजोग ॥ मृग मित्र, भोजन तप मई, विज्ञान निरमल नीर। ते साधु मेरे मन बसो, मेरी हरहु पातक पीर ॥४॥ सूखहिं सरोवर जल भरे सूखहिं तरंगिनि-तोय ॥ बाटहि बटोही ना चलैं जंह घाम गरमी होय ॥ तिहंकाल मुनिवर तप तपहिं, गिरिशिखर ठाड़े धीर। ते साधु मेरे उर बसो, मेरी हरहु पातक पीर ॥५॥ घनघोर गरजहिं घनघटा जलपरहिं पावस काल। चहुंओर चमकहिं बीजुरी, अति चले सीरी व्याल ॥ तरुहेठ तिष्ठहिं तब जती, एकांत अचल शरीर। ते साधु मेरे उर बसो, मेरी हरहु पातक पीर ॥६॥ जब शीत मास तुषारसों दाहै सकल बनराय। जब जमैं पानी पोखरां थरहरे सबको काय ॥ तब नगन निवसैं चौहटे अथवा नदी के तीर। ते साधु मेरे उर बसो, मेरी हरहु पातक पीर ॥७॥ कर जोर 'भूधर' बीनवै कब मिलहिं वे मुनिराज। यह आश मनकी कब फले मन सरहि सगरे काज। संसार विषम विदेशमें, जे बिना कारण वीर। ते साधु मेरे उर बसो, मेरी हरहु पातक पीर ॥८॥

भूधरकृत दूसरी गुरुस्तुति

राग भरतरी—दोहा

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भवजलधि जहाज। आप तिर पर तार हीं, ऐसे श्रीऋषिराज॥ ते गुरु० ॥२॥ मोह महारिपु जानिकै छांड्यो सब घरबार। होय दिगम्बर वन बसे, आतम शुद्ध विचार॥ ते गुरु० ॥२॥ रोग उरग-बिल वपु गिण्यो, भोग भुजंग समान। कदली तरु संसार है, त्याग्यो सब यह जान॥ ते गुरु० ॥३॥ रतनत्रय निधि उर धरैं, अरु निरग्रन्थ त्रिकाल। मार्‌यो कामखवीसको, स्वामी परम दयाल॥ ते गुरु० ॥४॥ पंच महाव्रत आदरैं, पाँचों समिति समेत। तीन गुपति पालैं सदा, अजर अमर पद हेत॥ ते गुरु० ।५॥ धर्म धरैं दशलछणी भावैं भावना सार। सहैं परीषह बीस द्वै, चारित-रतन-भण्डार॥ ते गुरु० ॥६॥ जेठ तपै रवि आकरो सूखै सर वर नीर। शैल-शिखर मुनि तप तपैं; दाझैं नगन शरीर॥ ते गुरु० ॥७॥ पावस रैन डरावनी, बरसै जलधर धार। तरुतल निवसैं साहसी, बाजै झंझावार॥ ते गुरु० ॥८॥ शीत पड़ै कपि-मद गलै, दाहै सब वनराय। ताल तरंगनिके तटै, ठाड़े ध्यान लगाय॥ ते गुरु० ॥ ९ ॥ इह विध दुद्धर तप तपैं, तीनों कालमँझार। लागे सहज सरूप में, तनसौं ममत निवार॥ ते गुरु० ॥ १० ॥ पूरब भोग न चिन्तवैं, आगम बाँछैं नाहिं। चहुंगतिके दुखसों डरैं, सुरति लगी शिवमाहिं॥ ते गुरु० ॥ ११ ॥ रंगमहल में पौढ़ते, कोमल सेज बिछाय। ते पच्छिम निशि भूमिमें सोवैं संवरि काय॥ ते गुरु० ॥ १२ ॥ गज चढ़ि चलते गरवसों, सेना सजि चतुरंग। निरखि निरखि पग ते धरैं, पालैं करुणा अंग॥ ते गुरु० ॥ १२ ॥ वे गुरु चरण जहां धरैं, जगमें तीरथ जेह। सो रज मम मस्तक चढ़ो, 'भूधर' मांगे एह॥ ते गुरु० ॥१४॥

जिनवाणीकी स्तुति

करूं भक्ति तेरी हरो दुख माता भ्रमणका ॥ टेक ॥

अकेला ही हूं मैं करम सब आये सिमटकें। लिया है मैं तेरा शरण अब माता सटक के ॥१॥ भ्रमावत है मोकों करम दुख देता जनम का ॥करो०॥ दुःखी हुआ भारी भ्रमत फिरता हूं जगत में। सहा जाता नाहीं अकल घबराई भ्रमण में ॥ करो क्या मा मेरी चलत बस नाही मिटन का। करो० ॥२॥ सुनो माता मेरी, अरज करता हूं दरद में, दुःखी जानो मोको डरपकर आया शरण में। कृपा ऐसी कीजे दरद मिट जावे मरण का। करो० ॥३॥ पिलावे जो मोकों सुबुद्धि का प्याला अमृत का। मिटावे जो मेरा सब दुख सारे फिरण का॥ परों पावां तेरे हरो दुख भारी फिरणका॥ करो० ॥४॥टेक०—मिथ्यातम नाशवे को ज्ञान के प्रकाशवेकों आपा पर भासवें को भानुसी बखानी है। छहूं द्रव्य जानिवेकों बन्ध विधि भानवेको स्वपर पिछानवेकों परम प्रवाणी है। अनु-भव बतायवेकों जीवके जतायवेकों काहु न सतायवेकों भव्य उर आनी है। जहां तहां तारवेकों पार के उतारवेकों, सुख विस्तारवेको येही जिन वाणी है ॥६॥

दोहा

जिन वाणी की स्तुति, अल्प बुद्धि परमाण।
पन्नालाल विनती करै, देहु मात मोहि ज्ञान ॥८॥

हे जिनवाणी भारती, तोहि जपों दिन रैन।
जो तेरी शरणा गहै, सो पावे सुख चैन ॥९॥

जिनवाणी के ज्ञानसे सूझे लोकालोक।
सो वाणी मस्तक धरूं सदा देत हों धोक ॥१०॥

महामुनि श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

—:※※:—

समयपाहुड

(मंगलाचरण)

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥१॥

आचार्य कहते हैं, मैं कुन्दकुन्द ध्रुव अचल और अनुपम इन तीन विशेषणोंसे. युक्त सिद्धको प्राप्त हुए ऐसे सब सिद्धोंको नमस्कार कर हे भव्यो, श्रुतकेवलियों द्वारा कहे हुए इस समयसार नामा प्राभृत को कहूंगा ।

(स्व-समय पर-समयका लक्षण)

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥

हे भव्य, जो जीव दर्शन ज्ञान चारित्रमें स्थित हो रहा है उसे निश्चयकर स्वसमय जान । और जो जीव पुद्गलकर्मके प्रदेशोंमें स्थित हो रहा है उसे परसमय जान ।

(स्व-समयमें परसमय बाधक है)

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥३॥

एकत्वनिश्चयमें प्राप्त जो समय है वह सब लोकमें सुन्दर-

है। इसलिये एकत्वमें दूसरेके साथ बंधकी कथा विसंवाद करानेवाली है।

(स्व-समयकी दुर्लभता)

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

सबही लोकोंको काम भोग विषयक बंधकी कथा तो सुननेमें आगई है, परिचयमें आगई है और अनुभवमें भी आई हुई है इसलिये सुलभ है। लेकिन केवल भिन्न आत्माके एकत्वकी प्राप्ति न कभी सुनी, न परिचयमें आई और न अनुभवमें आई इसलिये एक यही सुलभ नहीं है।

(अपनी लघुताका दर्शन)

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥५॥

उस एकत्व विभक्तशुद्ध आत्माको मैं आत्माके निज विभवसे दिखलाता हूं। यदि मैं ठीक दिखलाऊं तो उसे प्रमाण (स्वीकार) करना और यदि कहीं पर चूक जाऊं तो छल नहीं ग्रहण करना।

(शुद्ध आत्माका स्वरूप)

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६॥

जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त

ही है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं। और जो ज्ञायक भावसे जान लिया वह वही है अन्य कोई नहीं।

(व्यवहार नयसे आत्माका स्वरूप)

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

ज्ञानीके चारित्र, दर्शन, ज्ञान—ये तीन भाव व्यवहारसे कहे जाते है। निश्चयसे ज्ञानभी नहीं है, चारित्रभी नहीं और दर्शनभी नहीं। ज्ञानी तो एक ज्ञायक ही है इसलिये शुद्ध कहा गया है।

(व्यवहारकी आवश्यकता)

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥८॥

जैसे म्लेच्छ जनोंको म्लेच्छ-भाषाके विना तो कुछ भी वस्तुकास्वरूप ग्रहण कराने को कोई पुरुष नहीं समर्थ हो सकता, उसी प्रकार व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश करना अशक्य है अर्थात् कोई नहीं कर सकता है।

(व्यवहारकी प्रतिपादकता)

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥९॥

जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥१०॥

जो जीव निश्चयसे श्रुतज्ञानके द्वारा इस अनुभव-गोचर केवल एक शुद्ध, आत्माको अच्छी तरह जानता है उसे लोकके प्रगट जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं।

जो, जीव सब श्रुतज्ञानको जानता है उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं क्योंकि सब ज्ञान आत्मा ही है इस कारण आत्माको ही जाननेसे श्रुतकेवली कहा जासकता है।

(व्यवहार और निश्चयनय का स्वरूप)

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारनय अभूतार्थ (असत्यार्थ) है और शुद्धनय भूतार्थ (सत्यार्थ) है ऐसा ऋषीश्वरों ने उपदेश दिया है। जो जीव भूतार्थको आश्रित करता है वह जीव निश्चयसे सम्यग्दृष्टि है।

(व्यवहारनयकी उपयोगिता)

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

जो शुद्धनय तक पहुंच श्रद्धावान हुए तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान हो गये उनको तो शुद्धका उपदेश करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है। यहां शुद्ध आत्माका प्रकरण है इसलिये शुद्ध नित्य एक ज्ञायक मात्र आत्मा जानना। और जो जीव अपरम भाव में स्थित है अर्थात् श्रद्धाके तथा ज्ञान चारित्रके पूर्ण भावको नहीं पहुंच सके, साधक अवस्थामें ही ठहरे हुए हैं वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

(सम्यक्त्वका स्वरूप)

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

भूतार्थ नयसे जाने हुये जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष, ये नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४॥

जो नय आत्माको बंधसे रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यपनेसे रहित चलाचलता रहित, विशेष रहित, अन्यके संयोगसे रहित, ऐसे पांच भावरूप देखता है उसे हे शिष्य, तू शुद्धनय जान।

(शुद्धनयका स्वरूप)

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्भं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

जो पुरुष आत्माको अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत, असंयुक्त, इन स्वरूप देखता है वह सब जिनशासनको देखता है। वह जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुत वाला है।

(आत्मा रत्नत्रय स्वरूप है)

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

साधु पुरुषोंको दर्शन ज्ञान चारित्र निरंतर सेवन करने योग्य हैं। और वे तीन हैं तो भी निश्चयनयसे एक आत्मा ही जानो।

(उपर्युक्त कथनका दृष्टान्तद्वारा समर्थन)

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

जैसे कोई धनका चाहने वाला पुरुष राजाको जान कर श्रद्धान करता है उसके बाद उसकी अच्छी तरह सेवा करता है। इसी तरह मोक्षको चाहने वाला जीवरूप राजाको जाने और फिर उसी तरह श्रद्धान करे उसके बाद उसका अनुचरण करे अर्थात अनुभव कर तन्मय होजाय।

(अज्ञानीका स्वरूप)

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

जब तक इस आत्माके ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म भावकर्म और शरीर आदि नोकर्ममें मैं कर्म नोकर्म हूं और ये कर्म नो कर्म मेरे हैं ऐसी निश्चय बुद्धि है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है।

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥

आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि।
होहिदि पुणोवि मज्झं अहमेदं चावि होस्सामि ॥२१॥

एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

जो पुरुष अपनेमे अन्य जो परद्रव्य सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त धन धान्यादिक, मिश्र ग्राम नगरादिक, इनको ऐसा समझे कि मैं यह हूं, ये द्रव्य मुझस्वरूप हैं, मैं इन का हूं, ये मेरे हैं, ये मेरे पहले थे, इनका मैं भी पहले था। तथा ये मेरे आगामी होंगे, मैं भी इन का आगामी होऊंगा, ऐसा झूठा आत्मविकल्प करता है वह मूढ है, मोही है, अज्ञानी है। और जो पुरुष परमार्थ वस्तु स्वरूपको जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता है वह मूढ नहीं है ज्ञानी है।

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥

सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
किह सो पुग्गलदव्वी-भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥

जदि सो पुग्गलदव्वी–भूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥

जिसकी मति अज्ञानसे मोहित है ऐसा जीव इस तरह कहता है कि यह शरीरादि बद्ध द्रव्य, धनधान्यादि अबद्ध पर द्रव्य मेरा है। वह जीव मोह राग द्वेषादि बहुत भावोंसे सहित है॥ आचार्य कहते हैं जो जीव सर्वज्ञ के ज्ञानसे देखा गया नित्य उपयोग लक्षणवाला है वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? जो तू कहता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है। जो जीव द्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय, तो पुद्गल द्रव्य भी जीवपने को प्राप्त हो जायगा। यदि ऐसा हो जाय तो तुम कह सकते हो कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। ऐसा नहीं है।

(अज्ञानकी शंकाका समाधान)

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

(अप्रतिबुद्ध कहता है) कि जो जीव है वह शरीर नहीं है, तो तीर्थंकर और आचार्योंकी स्तुति करना है वह सबही मिथ्या (झूठ) हो जाय। इस लिये हम समझते हैं कि आत्मा यह देह ही है।

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

व्यवहार नय तो ऐसा कहता है कि जीव और देह एक ही हैं और निश्चय नयका कहना है कि जीव और देह ये दोनों तो कभी एक पदार्थ नहीं हो सकते ।

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

जीवसे भिन्न इस पुद्‌गलमयी देहकी स्तुति करके साधु असल में ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवानकी स्तुतिकी और वंदना की।

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्च केवलिं थुणदि ॥२९॥

वह स्तवन निश्चयमें ठीक नहीं हैं, क्योंकि शरीरके गुण केवलीके नहीं। जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही परमार्थसे केवलीकी स्तुति करता है।

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

जैसे नगरका वर्णन करने पर राजाका वर्णन नहीं किया होता उसी तरह देहके गुणोंका स्तवन होनेसे केवलीके गुण स्तवन रूप किये नहीं होते।

(जितेन्द्रियका स्वरूप)

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू॥ ३१॥

जो इंद्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभावकर अन्य द्रव्यसे अधिक आत्माको जानता है। उसको नियमसे जो निश्चयनयमें स्थित साधु लोक हैं वे जितेन्द्रिय ऐसा कहते हैं।

(जितमोहका स्वरूप)

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

जो मुनि मोहको जीत कर अपने आत्माको ज्ञानस्वभाव कर अन्यद्रव्य भावोंसे अधिक जानता है उस मुनिको परमार्थ के जानने वाले जितमोह ऐसा जानते हैं कहते है।

(क्षीणमोहका स्वरूप)

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भएणदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

जिसने मोहको जीत लिया है ऐसे साधुके जिस समय मोह क्षीण हुआ सत्तामें से नाश होता है उस समय निश्चयके जानने वाले निश्चय कर उस साधुको क्षीणमोह ऐसे नामसे कहते है।

(निश्चय नयसे प्रत्याख्यानका स्वरूप)

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥

जिस कारण अपने सिवाय सभी पदार्थ पर हैं ऐसा जानकर त्यागता है इस कारण पर हैं, यह जानना ही प्रत्याख्यान है यह नियमसे जानना। अपने ज्ञानमें त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है दूसरा कुछ नहीं है।

(उक्त कथनका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टकरण)

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥ ३५॥

जैसे लोकमें कोई पुरुष परवस्तुको ऐसा जानता है कि यह परवस्तु है तब ऐसा जान परवस्तुको त्यागता है, उसी तरह ज्ञानी सब परद्रव्योंके भावोंको ये परभाव हैं ऐसा जानकर उनको छोड़ता है ।

(निर्मोही का स्वरूप)

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३६॥

जो ऐसा जाने कि मोह मेरा कोई भी संबंधी नहीं, एक उपयोग है वही मैं हूं। ऐसे जाननेको सिद्धांतके अथवा आपापर स्वरूपके जानने वाले मोहसे निर्ममत्वपना समझते हैं, कहते हैं ।

(ज्ञेयभाव विवेकका प्रतिपादन)

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३७॥

ऐसा जाने कि ये धर्म आदि द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं लगते, मैं ऐसा जानता हूँ कि एक उपयोग है वही मैं हूं । ऐसा जानने को सिद्धांत वा स्वपर समयरूप समयके जानने वाले धर्म द्रव्य से निर्ममत्वपना कहते हैं ।

(निश्चयनयसे आत्मा का स्वरूप)

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
णवि अत्थिमज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३८॥

(जो दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणत हुआ, आत्मा वह ऐसा जानता है कि) मैं एक हूं, शुद्ध हूं, निश्चय कर सदा काल अरूपी हूँ । अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं लगता है यह निश्चय है ।

—❀❀:❀❀—

(जीवाजीव अधिकार में पूर्वरंग समाप्त)

जीवाजीव अधिकार

(अज्ञानियों द्वारा आत्मस्वरूपकी विविध कल्पना)

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥४०॥

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥

जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥

एवं विहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवाईहिं णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

जो आत्माको नहीं जानते हुए परको आत्मा कहने वाले कोई मोही अज्ञानी तो अध्यवसानको और कोई कर्मको जीव कहते हैं । अन्य कोई अध्यवसानों में अनुभागगत तीव्र मंदताको जीव मानते हैं और अन्य कोई नोकर्म को जीव मानते हैं, अन्य

कोई कर्मके उदयको जीव मानते हैं, कोई कर्मके अनुभागको जो अनुभाग तीव्र मंद पनें रूप गुणोंकर भेदको प्राप्त होता है, वह जीव है ऐसा इष्ट कहते हैं। कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुए को ही जीव मानते हैं और अन्य कोई कर्मोंके संयोग कर ही जीव मानते हैं। इस प्रकार तथा अन्य भी बहुत प्रकार दुबुद्धी मिथ्या दृष्टि परको आत्मा कहते हैं। वे परमार्थ कहने वाले नहीं हैं ऐसा निश्चयवादियोंने कहा है।

(अध्यवसान आदि जीव नहीं हैं)

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४४॥

ये पूर्व कहे हुए अध्यवसान आदिक भाव हैं वे सभी पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा केवली सर्वज्ञ जिनदेव-ने कहा है, उनको जीव ऐसा कैसे कह सकते हैं ? नहीं कह सकते ।

(कर्म पुद्गल स्वरूप है और उनका फल दुःख है)

अट्ठविहं पिय कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणाविंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥ ४५॥

आठ तरह के कर्म हैं, वे सभी पुगद्ल स्वरूप हैं, ऐसा जिन भगवान सर्वज्ञ देव कहते हैं। पचकर उदयमें आने वाले जिस कर्म का फल प्रसिद्ध दुःख है ऐसा कहा है।

(व्यवहार नयसे अध्यवसानादिका स्वामित्व वर्णन)

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

ये सब अध्यवसानादिक भाव हैं वे जीव हैं ऐसा जिनवर-देवने जो उपदेश दिया है वह व्यवहारका मत है।

(उक्त कथनका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण)

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥ ४८॥

जैसे कोई राजा सेना सहित निकला वहां निश्चयकर सेनाके समूहको ऐसा कहना है। वह व्यवहार नयसे है कि यह राजा निकला उस सेनामें जो वास्तवमें एक ही राजा निकला उस सेनामें जो वास्तवमें एक ही राजा निकला है। इसी तरह इन अध्यवसान आदि अन्य भावोंको परमागममें ये जीव हैं ऐसा व्यवहार नयसे कहा है। निश्चय से विचारा जाय तो उन भावों मे जीव तो एक ही है।

(परमार्थसे जीवका लक्षण)

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४६॥

हे भव्य, तू जीवको ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्ध रहित है इंद्रियोंके गोचर नहीं, जिसके चेतना गुण शब्द रहित है किसी चिन्हसे जिनकाग्रहण नहीं होता जिसका आकार कुछ कहने में नहीं आता—ऐसा जीव जानना।

(रूप-रसादि जीव का स्वरूप)

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णविय फासो ।
णवि रुव ण सरीरं ण वि संठणं ण सहणणं ॥५०॥

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२

जीवमें रूप नही है, गंधभी नहीं है रस भी नहीं है और स्पर्श भी नही है, रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं हैं संहनन भी नहीं हैं, तथा जीव में राग भी नहीं है द्वेष भी नहीं है, मोह भी नहीं विद्यमाम है आस्रव भी नहीं है, कर्म भी नहीं है और नोकर्म भी उसके नहीं हैं, जीवके वर्ग नहीं हैं वर्गणा नहीं हैं कोई स्पर्धक भी नहीं हैं अध्यवसाय स्थान भी नहीं हैं और अनुभागस्थान भी नहीं हैं।

(योगस्थानादि जीवका स्वरूप नहीं)

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस परिणामा ॥५५॥

जीवके कोई योगस्थान भी नहीं हैं, अथवा बंधस्थान भी नहीं हैं, और उदय स्थान भी नहीं हैं, कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं, जीवके स्थितिबंधस्थान भी नहीं हैं, अथवा संक्लेसस्थान भी नहीं हैं, विशुद्धिस्थान भी नहीं हैं, अथवा संयमलब्धि स्थान भी नहीं हैं, और जीवके जीवस्थान भी नहीं हैं, अथवा गुणस्थान भी नहीं हैं; क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

ये वर्ण आदि गुणस्थानपर्यंत भाव कहे गये हैं वे व्यवहार-नयसे तो जीवके ही होते हैं, इसलिये सूत्र में कहे हैं, परन्तु निश्चयनयके मतसे इनमेंसे कोई भी जीवके नहीं हैं।

एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

इन वर्णादिक भावोंके साथ जीवका संबंध जल और दूधके एक क्षेत्रावगाहरूप संबंध सरीखा जानना और वे उस जीवके नहीं हैं इस कारण जीव इनसे उपयोग गुणकर अधिक है। इस उपयोग गुणकर जुदा जाना जाता है।

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

जैसे मार्गमें चलते हुएको लुटा हुआ देखकर व्यहारी जन कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है वहां परमार्थसे विचारा जाय तो कोई मार्ग नहीं लूटता, जाते हुए लोक ही लुटते हैं उसी तरह जीवमें कर्मोंका और नोकर्मोंका वर्ण देखकर जीवका यह वर्ण है ऐसा जिनदेवने व्यवहारसे कहा है इसी तरह गंध रस स्पर्श रूप देह संस्थान आदिक जो सब हैं वे व्यवहारसे हैं ऐसा निश्चयनयके देखनेवाले कहते हैं।

(वर्णादिकका जीवके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है)

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

वर्ण आदिक हैं वे संसारमें तिष्ठते हुए जीवोंके उस संसारमें होते हैं, संसारसे छूटे हुए (मुक्त हुए) जीवोंके निश्चय कर वर्णादिक कोई भी नहीं है। इसलिये तादात्म्य संबंध भी नहीं है।

(वर्णादिकका जीवके साथ तादात्म्य माननेपर दोष)

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

(वर्णादिकके साथ जीवका तादात्म्य माननेवालेको कहते हैं कि हे मिथ्या अभिप्रायवाले) जो तू ऐसा मानेगा

कि ये वर्णादिक भाव सभी जीव हैं, तो तेरे मतमें जीव और अजीवका कुछ भेद नहीं रहेगा।

(जीवका वर्णादिकसे तादात्म्य माननेपर दोष)

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६३ ॥

एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥

अथवा संसारमें तिष्ठते हुए जीवोंके तेरे मतमें वर्णादिक तादात्म्यस्वरूप हैं तो इसीकारण संसारमें स्थित जीव रूपीपनेको प्राप्त होगये। ऐसा होनेपर पुद्गलद्रव्य ही जीव सिद्ध हुआ पुद्गलके लक्षणके समान जीवका लक्षण होनेसे ही मूढबुद्धि निर्वाणको प्राप्त हुआ पुद्गल ही जीवपनेको प्राप्त हुआ।

(एकेन्द्रियादि पर्याय भी शुद्ध जीव नहीं है)

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥

एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥

एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय पंचेंद्रिय जीव तथा बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त ये जीव हैं वे नामकर्मकी प्रकृतियां हैं इन प्रकृतियोंकर ही करणस्वरूप होकर जीवसमास रचे गये हैं उन पुद्गलमय प्रकृतियोंसे रचे हुएको जीव कैसे कह सकते हैं।

(पर्याप्त-अपर्याप्त आदि संज्ञाएं व्यवहारसे हैं)

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥

जो पर्याप्त अपर्याप्त और जो सूक्ष्म बादर आदि जितनी देहकी जीवसंज्ञा कही है वह सभी सूत्रमें व्यवहारनयकर कही है ।

(गुणस्थान भी जीव-स्वरूप नहीं हैं)

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८ ॥

जो ये गुणस्थान हैं वे मोहकर्मके उदयसे होते हैं ऐसा सर्वज्ञके आगममें वर्णन किया गया है वे जीव कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते, क्योंकि जो हमेशा अचेतन कहे हैं ।

पहला जीवाजीवाधिकार पूर्ण हुआ ।

अथ कर्तृ कर्माधिकारः

(जीवके कर्म-बन्ध क्यों होता है ?)

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥ ६९ ॥
कोधादिसु वट्ट'तस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥ ७० ॥

यह जीव जबतक आत्मा और आस्रव इन दोनोंके भिन्न भिन्न लक्षण नहीं जानता तबतक वह अज्ञानी हुआ क्रोधादिक आस्रवों में प्रवर्तता है। क्रोधादिकोंमें वर्तते हुए उसके कर्मोंका संचय होता है इस प्रकार जीव के कर्मोंका बंध सर्वज्ञदेवोंने निश्चयसे कहा है।

(जीवके कर्म-बन्ध कब नहीं होता ?)

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

जिस समय इस जीवको अपना और आस्रवोंका भिन्न लक्षण मालूम हो जाता है उसी समय उसके बंध नहीं होता।

(जीव आस्रवसे कैसे निवृत्त होता है ?)

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

आस्रवोंका अशुचिपना और विपरीतपना तथा ये दुःखके कारण हैं ऐसा जानकर यह जीव उनसे निवृत्ति करता है।

(आस्रवोंका क्षय कैसे होता है ?)

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७३॥

(ज्ञानी विचारता है कि) मैं निश्चयसे एक हूं, शुद्ध हूं, ममतारहित हूं, ज्ञान-दर्शनकर पूर्ण हूं, ऐसे स्वभावमें तिष्ठता उसी चैतन्य अनुभवमें लीन हुआ इन क्रोधादिक सब आस्रवोंको क्षय कर देता हूं ।

(आस्रवोंसे निवृत्ति कैसे होती है ?)

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥ ७४ ॥

ये आस्रव हैं, वे जीवके साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं और अनित्य हैं तथा अशरण हैं, दुःखरूप हैं और जिनका फल दुःख ही है ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष उनसे निवृत्ति करता है ।

(ज्ञानी कौन है ?)

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ७५ ॥

जो जीव इस कर्मके परिणामको उसीतरह नोकर्मके परिणामको नहीं करता परन्तु जानता है वह ज्ञानी है ।

(ज्ञानी पुद्गलकर्मको जानता हुआ भी तद्रूप परिणत नहीं होता)

णवि परिणमइ ण गिण्हइ उपज्जइ ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ७६ ॥

ज्ञानी अनेक प्रकार पुद्गलद्रव्यके पर्यायरूप कर्मोंको जानता है तौभी निश्चयकर परद्रव्यके पर्यायोंमें उन स्वरूप नहीं परिणमता, ग्रहण भी नहीं करता और उनमें उत्पन्न भी नहीं होता।

(ज्ञानी अपने विविध परिणामोंको जानता हुआ भी परद्रव्यरूप परिणत नहीं होता)

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ७७ ॥

ज्ञानी अपने परिणामोंको अनेक प्रकार जानता हुआ भी निश्चय कर परद्रव्यके पर्यायमें न तो परिणमता है न उसको ग्रहण करता है और न उपजता है इसलिये उसके साथ कर्ता कर्मभाव नहीं है।

(ज्ञानी पुद्गलकर्मका फल जानता हुआ भी परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता)

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ७८ ॥

ज्ञानी अनंत पुद्गल कर्मोंके फलोंको जानता हुआ प्रवर्तता है तौ भी निश्चयसे परद्रव्यके पर्यायमें नहीं परिणमता है

उसमें कुछ ग्रहण नहीं करता तथा उसमें उपजता भी नहीं है। इसप्रकार उसमें इसके कर्तृ-कर्मभाव नहीं है।

(पुद्गलद्रव्यका परिणमन भी परद्रव्यरूप नहीं है)

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥ ७६ ॥

पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यके पर्यायमें उसतरह नहीं परिणमता है, उसको ग्रहण भी नहीं करता और न उत्पन्न होता है, क्योंकि अपने भावोंसे ही परिणमता है।

(जीव और पुद्गलके परिणमनमें निमित्तमात्रपना होने पर भी कर्तृ-कर्मभावका अभाव है)

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ ८० ॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥ ८१ ॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाण ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥ ८२ ॥

पुद्गल जिसको जीवके परिणाम निमित्त हैं, ऐसे कर्मपनेरूप परिणमते हैं उसीतरह जीव भी जिसको पुद्गलकर्म निमित्त है ऐसे कर्मपनेरूप परिणमता है। जीव कर्मके गुणोंको नहीं करता उसीतरह कर्म जीवके गुणोंको नहीं करता। किंतु इन दोनोंके परस्पर निमित्त मात्रसे परिणाम जानो, इसी कारणसे

अपने भावोंकर आत्मा कर्ता कहा जाता है, परन्तु पुद्गल कर्म कर किये गयेऐसे भावोंका कर्ता नहीं है।

(निश्चयनयसे जीव स्वपरिणामोंका ही कर्ता और भोक्ता है)

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥

निश्चयनयका यह मत है कि आत्मा अपनेको ही करता है फिर वह आत्मा अपनेको ही भोगता है ऐसा हे शिष्य ! तू जान।

(व्यवहारनयसे जीव पुद्गलकर्मोंका भी कर्ता और भोक्ता है)

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ ॥

व्यवहारनयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकार पुद्गल कर्मोंको करता है और उसी अनेक प्रकार पुद्गलकर्मको भोगता है।

(उक्त व्यवहारमें दूषण)

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावादित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥ ८५ ॥

जो आत्मा इस पुद्गलकर्मको करै और उसीको भोगे तो वह आत्मा दो क्रियासे अभिन्न ठहरै ऐसा प्रसंग आता है सो यह जिनदेवका मत नहीं है।

(दो क्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं)

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥ ८६ ॥

जिसकारण आत्माके भावको और पुद्गलके भावको दोनों ही को आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसीकारण दो क्रियाओं को एकके ही कहनेवाले मिथ्यादृष्टि ही हैं ।

(मिथ्यात्वादिकी द्विविधताका निरूपण)

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोधादिया इमे भावा ॥ ८७ ॥

जो मिथ्यात्व कहा गया था वह दो प्रकार है एक जीव-मिथ्यात्व एक अजीवमिथ्यात्व और उसीतरह अज्ञान, अविरति, योग, मोह, और क्रोधादि कषाय ये सभी भाव जीव अजीवके भेदकर दो दो प्रकार हैं ।

(मिथ्यात्वादिकी जीवाजीवरूपताका विश्लेषण)

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमजीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥ ८८ ॥

जो मिथ्यात्व योग अविरति अज्ञान ये अजीव हैं वे तो पुद्गलकर्म हैं और जो अज्ञान अविरति मिथ्यात्व ये जीव हैं तो वे उपयोग हैं ।

(मिथ्यात्वादि चैतन्य-परिणामके विकार हैं)

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥ ८९ ॥

अनादिसे मोहयुक्त होनेसे उपयोगके अनादिसे लेकर तीन परिणाम हैं वे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव ये तीन जानने।

(आत्माके त्रिविध परिणाम-विकारोंका कर्तृत्वपना)

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ ९० ॥

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनोंका अनादिसे निमित्त होनेपर आत्माका उपयोग शुद्ध नयकर एक शुद्ध निरंजन है तौभी मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इस तरह तीन प्रकार परिणामवाला है। वह आत्मा इन तीनोंमेंसे जिस भावको स्वयं करता है उसीका वह कर्ता होता है।

(आत्माके विकार भावोंका कर्त्ता होनेपर पुद्गलद्रव्यका स्वतः कर्मरूप परिणमन)

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥ ९१ ॥

आत्मा जिस भावको करता है उस भावका कर्ता आप होताहै उसके कर्ता होने पर पुद्गलद्रव्य अपने आप कर्मपनेरूप परिणमता है।

(जीव अज्ञानसे ही कर्मोंका कर्त्ता होता है)

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥

जीव आप अज्ञानी हुआ परको अपने करता है और अपने को परके करता है इसतरह वह कर्मोंका कर्ता होता है।

(जीव ज्ञानसे ही कर्मोंका अकर्त्ता रहता है)

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥ ९३ ॥

जो जीव अपनको पर नहीं करता और परको अपना भी नहीं करता वह जीव ज्ञानमय है, कर्मोंका करनेवाला नहीं है।

(अज्ञानसे कर्मोत्पत्तिका उदाहरण)

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

यह तीन प्रकारका उपयोग अपनेमें विकल्प करता है कि मैं क्रोध स्वरूप हूं उस अपने उपयोग भावका वह कर्ता होता है

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९५ ॥

यह उपयोग तीन प्रकारका होनेसे धर्मआदिक द्रव्यरूप आत्मविकल्प करता है, उनको अपने जानता है, वह उस उपयोग रूप अपने भावका कर्ता होता है।

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥

ऐसे पूर्वकथित रीतिसे अज्ञानी अज्ञानभाव कर पर द्रव्योंको अपनी करता है और अपनेको परका करता है।

(जीव ज्ञान के द्वारा ही कर्तृत्व बुद्धि को छोड़ता है)

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥ ९७ ॥

इस पूर्वकथित कारणसे निश्चयके जानने वाले ज्ञानियोंने वह आत्मा कर्ता कहा है इसतरह जो जानता है वह ज्ञानी हुआ सब कर्तापने को छोड़ देता है।

(जीव व्यवहारसे ही परका कर्त्ता है)

ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

आत्मा व्यवहार कर घट पट रथ इन वस्तुओंको करता है और इंद्रियादिक करणपदार्थोंको करता है और ज्ञानावरणादिक तथा क्रोधादिक द्रव्यकर्म भावकर्मोंको करता है तथा इस लोकमें अनेकप्रकार के शरीरादि नोकर्मोंको करता है।

(परन्तु परमार्थसे परका कर्त्ता नहीं है)

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

जो वह आत्मा परद्रव्योंको करे तो वह आत्मा उन परद्रव्योंसे नियमकर तन्मय होजाय परन्तु तन्मय नहीं होता इसी कारण वह उनका कर्ता नहीं है।

(जीव योग और उपयोगका कर्त्ता है)

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीव घड़ेको नहीं करता और पटको भी नहीं करता शेष द्रव्यों को भी नहीं करता। जीवके योग और उपयोग ये दोनों घटादिकके उत्पन्न करनेके निमित्त हैं, उन दोनों योग उपयोगोंका यह जीव कर्ता है।

(ज्ञानी ज्ञानका ही कर्त्ता है, पर भावका नहीं)

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

जो ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्यों के परिणाम हैं उन को आत्मा नहीं करता, जो जानता है वह ज्ञानी है।

(अज्ञानी जीव भी स्व-विकारभावोंका ही कर्त्ता है, पर द्रव्यका नहीं)

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

आत्मा जिस शुभ अशुभ अपने भावको करता है वह उस भावका कर्ता निश्चयसे होता है वह भाव उसका कर्म होता है वही आत्मा उस भावरूप कर्मका भोक्ता होता है।

(अन्य द्रव्यका गुण अन्य द्रव्यमें नहीं जा सकता)

जो जह्नि गुणो दव्वे सो अण्णह्नि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

जो द्रव्य जिस अपने द्रव्यस्वभावमें तथा अपने जिस गुणमें वर्तता है वह अन्य द्रव्यमें तथा गुणमें संक्रमणरूप नहीं

होता पलटकर अन्यमें नहीं मिल जाता, वह अन्यमें नहीं मिलता हुआ, उस अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है कभी नहीं परिणमा सकता।

(निष्कर्ष)

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

आत्मा पुद्गलमयकर्ममें द्रव्यको तथा गुणको नहीं करता उसमें उन दोनोंको नहीं करता हुआ उसका वह कर्ता कैसे हो सकता है।

(कर्म बन्ध उपचारमात्र है)

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवको निमित्तरूप होनेसे कर्मबंधका परिणाम होता है उसे देखकर जीवने कर्म किये हैं यह उपचारमात्रसे कहा जाता है।

(औपचारिकताका उदाहरण)

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

जैसे योधाओंने युद्ध किया उस जगह लोक ऐसा कहते हैं कि राजा ने युद्ध किया सो वह व्यवहारसे कहना है उसीतरह ज्ञानावरणादि कर्म जीवनें किये हैं ऐसा कहना व्यवहारसे है।

(आत्मा व्यवहारसे ही उत्पाद आदिका कर्त्ता है)

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

आत्मा पुद्गलद्रव्यको उत्पन्न करता है और करता है, बांधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है ऐसा व्यवहार नयका वचन है ।

(उक्त कथनका उदाहरण)

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

जैसे प्रजामें राजा दोष और गुणोंका उत्पन्न करने वाला है ऐसा व्यवहारसे कहा है, उसीतरह जीवको भी व्यवहारसे पुद्गलद्रव्यमें द्रव्यगुणका उत्पादक कहा गया है ।

(बन्ध-प्रत्यय कर्मके कर्त्ता हैं, जीव नहीं)

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥

तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तह्मा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

प्रत्यय अर्थात् कर्मबंधके कारणजो आस्रव वे सामान्यसे चार बंधके कर्ता कहे हैं वे मिथ्यात्व अविरमण और कषाय योग जानने और उनका फिर यह भेद तेरह भेदरूप कहा गया है वह मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली तक है, वे तेरह गुणस्थान जानने। ये निश्चय दृष्टिकर अचेतन हैं क्योंकि पुद्गल कर्मके उदयसे हुए हैं, जो वे कर्मको करते हैं, उनका भोक्ता आत्मा नहीं होता, ये प्रत्यय गुणनाम वाले हैं, क्योंकि ये कर्मको करते हैं. इसकारण जीव तो कर्मका कर्ता नहीं है और ये गुण ही कर्मोंको करते हैं।

(जीव और बन्ध-प्रत्यय एक नहीं है)

जय जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओमप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

जैसे जीवके एकरूप उपयोग है उसी तरह जो क्रोध भी एकरूप होजाय तो इस तरह जीव और अजीवके एकपना प्राप्त हुआ, ऐसा होनेसे इस लोकमें जो जीव है, वही नियमसे वैसा

ही अजीव हुआ, ऐसे दोनोंके एकत्व होनेमें यह दोष प्राप्त हुआ। इसीतरह प्रत्यय नोकर्म और कर्म इनमें भी यही दोष जानना। अथवा इस दोषके भयसे तेरे मतमें क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है, और जैसे क्रोध है उसी तरह प्रत्यय कर्म और नोकर्म ये भी आत्मासे अन्य ही हैं।

(पुद्गल द्रव्य भी परिणमनशील है)

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं तु परिणामयदि चेदा ॥११८॥

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

पुद्गलद्रव्य जीवमें आप न तो बंधा है और न कर्मभावसे स्वयं परिणमता है, जो ऐसा मानो तो यह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी हो जायगा, अथवा कार्माणवर्गणा आप कर्मभावसे नहीं परिणमती ऐसा मानिये तो संसारका अभाव ठहरेगा, अथवा

सांख्यमतका प्रसंग आयेगा। जीव ही पुद्‌गलद्रव्योंको कर्म भावोंसे परिणमाता है ऐसा माना जाय तो वे पुद्‌गलद्रव्य आप ही नहीं परिणमते उनको यह चेतन जीव कैसे परिणमा सकता है, यह प्रश्न हो सकता है अथवा पुद्‌गलद्रव्य आप ही कर्मभावसे परिणमता है ऐसा माना जाय तो जीव कर्म भावकर कर्मरूप पुद्‌गलको परिणमाता है, ऐसा कहना झूठ हो जाय। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि पुद्‌गल द्रव्य कर्मरूप परिणत हुआ, नियम से ही कर्मरूप होता है ऐसा होनेपर वह पुद्‌गल द्रव्य ही ज्ञाना-वरणादिरूप परिणत कर्म जानो।

(जीव द्रव्य भी परिणमन-शील है)

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥१२१॥

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

सांख्यमत वाले शिष्यको, आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! तेरी बुद्धिमें यदि यह जीव कर्मोंमें आप तो बंधा नहीं है और क्रोधादि भावोंकर आप परिणमता भी नहीं है ऐसा है तो वह अपरिणामी होगा, ऐसा होनेपर क्रोधादि भावों कर जीवको आप नहीं परिणत होनेपर संसारका अभाव हो जायगा, और सांख्यमत का प्रसग आवेगा। यदि कहेगा कि पुद्गल कर्म क्रोध है वह जीवको क्रोध भावरूप परिणमाता है तो आप स्वयं न परिणमते हुए जीवको क्रोध कैसे परिणमा सकता है ऐसा प्रश्न है। अथवा तेरी ऐसी समझ है कि अपने आप यह आत्मा क्रोध भाव कर परिणमता है तो क्रोध जीवको क्रोध भावरूप परिणमाता है, ऐसा कहना मिथ्या ठहरता है। इसलिये यह सिद्धांत है कि आत्मा क्रोधसे उपयोग सहित होता है अर्थात् उपयोग क्रोधाकार रूप परिणमता है तब तो क्रोध ही है, मानसे उपयुक्त होता है तब मान ही है, मायाकर उपयुक्त होता है तब माया ही है और लोभकर उपयुक्त होता है तब लोभ ही है।

(ज्ञान-अज्ञानमय भावोंका कर्तृपना)

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

जो आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावरूप कर्मका कर्ता होता है। उस जगह ज्ञानीके तो वह भाव ज्ञानमय है और अज्ञानीके अज्ञानमय है।

(अज्ञानी कर्मका कर्त्ता है, ज्ञानी नहीं)

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥१२७॥

अज्ञानीका अज्ञानमय भाव है, इस कारण अज्ञानी कर्मों-को करता है और ज्ञानीके ज्ञानमय भाव होता है, इसलिये वह ज्ञानी कर्मोंको नहीं करता।

(ज्ञानीके ज्ञानमय और अज्ञानीके अज्ञानमय भाव क्यों होते हैं ?)

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

जिस कारण ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है। इस कारण ज्ञानी के निश्चय कर सब भाव ज्ञानमय है। और जिस कारण अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होता है,इस कारण अज्ञानीके अज्ञानमयही भाव उत्पन्न होते हैं।

(उक्त कथनका दृष्टान्तद्वारा स्पष्टीकरण)

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायते तु कडयादो ॥१३०॥

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

जैसे सुवर्णमय भावसे सुवर्णमय कुंडलादिक भाव होते हैं, और लोहमय भावसे लोहमयी कड़े इत्यादिक भाव होते हैं। उसका दाष्टांत। उसी तरह अज्ञानीके अज्ञानमय भावसे

अनेक तरहके अज्ञानमय भाव होते हैं, और ज्ञानीके सभी ज्ञानमय भाव होनेसे ज्ञानमय भाव होते हैं।

(अज्ञानादि भावोंके कारणोंका वर्णन)

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥

एदसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

जो, जो जीवोंके अन्यथास्वरूपका जानना है वह अज्ञानका उदय है और जो जीवके अतत्त्वका श्रद्धान है वह मिथ्यात्वका उदय है और जो जीवोंके अत्यागभाव है वह असंयमका उदय है और जो जीवोंके मलिन (ज्ञानपनेकी स्वच्छतासे रहित) उपयोग है वह कषायका उदय है और जो जीवोंके शुभरूप अथवा अशुभरूप मन, वचन, कायकी चेष्टाके उत्साहका करने योग्य, अथवा न करने योग्य, व्यापार है उसे योगका उदय जानो। इन-

को हेतुभूत होनेपर जो कार्माणवर्गणारूप आकार प्राप्त हुआ ज्ञानावरण आदि भावोंकर आठ प्रकार परिणमता है वह निश्चय कर जब कार्माणवर्गणारूप आया हुआ जीवमें बंधता है उससमय उन अज्ञानादिक परिणाम भावोंका कारण जीव होता है।

(जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे भिन्न ही है)

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१३७॥

एकस्स दु परिणामा जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥

जो ऐसा माना जाय कि जीवके परिणाम रागादिक हैं वे निश्चयसे कर्मके साथ होते हैं तो जीव और कर्म ये दोनों ही रागादि परिणामको प्राप्त हो जाएँ इसलिये सिद्ध हुआ कि इन रागादिकोंसे एक जीवका ही परिणाम उत्पन्न होता है वह कर्मका उदयरूप निमित्त कारणसे जुदा एक जीवका ही परिणाम है।

(पुद्गलका परिणाम जीवसे भिन्न ही है)

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४०॥

जो जीवके साथ ही पुद्गलद्रव्यका कर्मरूप परिणाम होता

है ऐसा माना जाय तो इसतरह पुद्गल और जीव दोनों ही कम पनेको प्राप्त हुए ऐसा हुआ। इसलिये जीवभाव निमित्त कारणके बिना जुदा ही कर्मका परिणाम है। सो एक पुद्गल द्रव्यका ही कर्मभाव कर परिणाम है।

(व्यवहार और निश्चय नयसे जीव और कर्मकी बद्ध-अबद्धता)

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीव अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवमें कर्म बद्ध है अर्थात् जीवके प्रदेशोंसे बंधा हुआ है, तथा स्पर्शता है ऐसा व्यवहार नयका वचन है और जीवमें अवद्ध स्पृष्ट है अर्थात् न बँधता है न स्पर्शता है ऐसा शुद्धनयका वचन है।

(समयसार बद्ध-अबद्धरूप नय पक्षसे परे है)

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णादि जो सो समयसारो ॥१४२॥

जीव में कर्म बंधे हुए हैं अथवा नहीं बंधे हुए हैं इस प्रकार तो नयपक्ष जानो और जो पक्षसे दूर-वर्ती कहा जाता है, यह समयसार है निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व है।

(नय-पक्षसे रहित आत्मज्ञका स्वरूप)

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिवद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

जो पुरुष अपने शुद्धात्मासे प्रतिबद्ध है आत्माको जानता है वह दोनों ही नयोंके कथनको केवल जानता ही है परन्तु

नय पक्षको कुछ भी नहीं ग्रहण करता, क्योंकि वह नयके पक्ष से रहित है।

(नय-पक्षपातसे रहित ही समयसार है)

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

जो सब नयपक्षोंसे रहित है वही समयसार ऐसा कहा है। यह समयसार ही केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान ऐसे नामको पाता है। उसीके नाम हैं वस्तु दो नहीं हैं।

कर्ता-कर्म नामा दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

—:★卐★:—

अथ पुण्यपापाधिकारः

(कर्मके शुभ-अशुभ स्वभावका वर्णन)

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

अशुभ कर्म तो पाप स्वभाव है बुरा है और शुभकर्म पुण्य-स्वभाव है अच्छा है ऐसा जगत् जानता है। परन्तु परमार्थ दृष्टि से कहते हैं कि जो प्राणीको संसारमें ही प्रवेश कराता है वह कर्म शुभ अच्छा कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

(शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म बेड़ीरूप हैं)

सौवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

जैसे लोहेकी बेड़ी पुरुषको बांधती है और सुवर्णकी भी बांधती है उसीतरह शुभ तथा अशुभ किया हुआ कर्म जीवको बांधता ही है।

(मुमुक्षुके लिए, दोनों ही हेय हैं)

तह्मा दु कुसीलेहिय रा मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

हे मुनिजन हो ! इसलिये (पूर्वकथित शुभ अशुभ कर्म हैं वे कुशील हैं निंद्य स्वभाव हैं) उन दोनों कुशीलोंसे प्रीति मत करो अथवा संबंध भी मत करो, क्योंकि कुशीलके संसर्गसे और रागसे अपनी स्वाधीनताका विनाश होता है अपना घात आपसे ही होता है।

(शुभ-अशुभ कर्मकी प्रतिषेध्यताका दृष्टान्तद्वारा समर्थन)

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥

एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरन्ति य तस्सं सग्गं सहावरया ॥१४९॥

जैसे कोई पुरुष निंदित स्वभाववाले किसी पुरुषको जान

कर उसके साथ संगति और राग करना छोड़ देता है, इसी तरह ज्ञानी जीव कर्म-प्रकृतियोंके शील स्वभावको निंदने योग्य खोटा जानकर उससे राग छोड़ देते हैं, और उसकी संगति भी छोड़ देते हैं पश्चात् अपने स्वभावमें लीन हो जाते हैं।

(राग बंधका और विराग मोक्षका कारण है)

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रागी जीव तो कर्मोंको बांधता है तथा वैराग्यको प्राप्त हुआ जीव कर्मसे छूट जाता है यह जिन भगवानका उपदेश है, इस कारण भो भव्य जीवो तुम कर्मोंमें प्रीति मत करो, रागी मत हो ओ।

(शुद्ध आत्म-स्वरूपमें अवस्थित जीव ही मोक्षका अधिकारी है)

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

निश्चयकर परमार्थरूप जीवनामा पदार्थका स्वरूप यह है कि जो शुद्ध है केवली है मुनि है ज्ञानी है ये जिस के नाम हैं, उस स्वभावमें तिष्ठे हुए मुनि मोक्षको प्राप्त होते हैं।

(ज्ञानस्वरूपमें स्थिरताके बिना व्रतादिक मोक्षके कारण नहीं हैं)

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

जो ज्ञान स्वरूप आत्मामें तो स्थिर नहीं है और तप करता

है तथा व्रतोंको धारण करता है उस सब तप व्रतको सर्वज्ञ-देव अज्ञानतप अज्ञानव्रत कहते हैं।

(ज्ञान मोक्षका कारण है और अज्ञान बंधका कारण है)

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

जो कोई व्रत और नियमों को धारण करते हैं, उसीतरह शील और तपको करते हैं परन्तु परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मासे बाह्य हैं अर्थात् उसके स्वरूपका-ज्ञान श्रद्धान जिनके नहीं हैं, वे मोक्षको नहीं पाते।

(पुण्य कर्मके पक्षपातीको प्रतिबोधनार्थ निर्देश-कथन)

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

जोजीव परमार्थसे बाह्य हैं परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को नही अनुभवते वे जीव अज्ञानसे पुण्यको अच्छामानके चाहते हैं, वह पुण्य संसारके गमनका कारण है तौ भी, वे जीव मोक्षका कारण ज्ञानस्वरूप आत्माको नहीं जानते। पुण्यको ही मोक्षका कारण मानते हैं।

(परमार्थसे मोक्षके कारणोंका दिग्दर्शन)

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान तो सम्यक्त्व है और उन

जीवादि पदार्थोंका अधिगम वह ज्ञान है तथा रागादिक-का त्याग वह चारित्र है यही मोक्षका मार्ग है।

(परमार्थरूप मोक्ष-कारणोंसे भिन्न कर्मोका प्रतिषेध)

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

पंडित जन निश्चयनयके विषयको छोड़ व्यवहार कर प्रवर्तते हैं परन्तु परमार्थभूत आत्मस्वरूपको आश्रित यतीश्वरोंके ही कर्मका नाश कहा गया है। व्यवहार में प्रवर्तनेवाले का कर्मक्षय नहीं होता।

(कर्म मोक्ष-कारणोंके प्रतिरोधक हैं)

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥१५९॥

जैसे वस्त्रका सफेदपना मलके मिलने कर लिप्त हुआ नष्ट हो जाता है तिरोभूत होता है उसी तरह मिथ्यात्व-मलसे व्याप्त हुआ आत्माका सम्यकत्वगुण निश्चयकर आच्छादित हो रहा है ऐसा जानना चाहिये। जैसे वस्त्र-का सफेदपन मलके मेलसे लिप्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी

तरह अज्ञानमलकर व्याप्त हुआ आत्माका ज्ञानभाव आच्छादित होता है ऐसा जानना चाहिये। तथा जैसे कपड़ेका सफेदपन मलके मिलने व्याप्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी तरह कषायमलकर व्याप्त हुआ आत्माका चारित्र भाव भी आच्छादित हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

(कर्मके स्वयं बंधपनेकी सिद्धि)

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छएणो।
संसारसमावएणो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

वह आत्मा स्वभावसे सबका जानने वाला और देखने वाला है तौ भी अपने कर्मरूपी रजसे आच्छादित (व्याप्त) हुआ संसारको प्राप्त होता हुआ सब तरहसे वस्तुको नहीं जानता।

(कर्मके कारण मोक्षके कारण सम्यग्दर्शनादि भावोंके रोकने वाले भावोंका प्रदर्शन)

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥

णाणस्स पडिणिबद्धं अरणाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अरणाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥

चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

सम्यक्त्वका रोकनेवाला मिथ्यात्वकर्म है ऐसा जिनवरदेवने कहा है उस मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव मिथ्या-

दृष्टि हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। ज्ञानका रोकने वाला अज्ञान है ऐसा जिनवरने कहा है, उसके उदयसे यह जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये। चारित्रका प्रतिबंधक कषाय है ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है, उसके उदयसे यह जीव अचारित्री हो जाती है ऐसा जानना चाहिये।

तीसरा पुण्य-पाप नामा अधिकार पूर्ण हुआ।

—❖—

अथ आस्रवाधिकारः

(आस्रवका स्वरूप निर्देश)

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥

णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

मिथ्यात्व अविरति और कषाय योग ये चार आस्रवके भेद चेतनाके और जड़-पुद्गल के विकार ऐसे दो दो भेद जुदे २ हैं। उनमें से चेतनके विकार हैं वे उस जीव में बहुत भेद लिये हुए हैं वे उस जीवके ही अभेदरूप परिणाम हैं और जो मिथ्यात्व आदि पुद्गलके विकार हैं वे तो ज्ञानावरण आदि कर्मोंके बंधने के कारण हैं और उन मिथ्यात्व आदि भावोंको भी राग-द्वेष आदि भावों का करने वाला जीव कारण होता है।

(ज्ञानीके आस्रवभावोंका प्रतिषेध)

णत्थि दु आसववंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

सम्यग्दृष्टिके आस्रव बंध नहीं है और आस्रवका निरोध है और जो पहले के बांधे हुए सत्तामें मौजूद हैं उनको आगामी नहीं बांधता हुआ वह जानता ही है।

(राग-द्वेष-मोह भाव ही आस्रव है)

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ॥१६७॥

जो रागादिकर युक्तभाव जीवकर किया गया हो वही नवीन कर्मका बंध करनेवाला कहा गया है और जो रागादिक भावों-से रहित है वह बंध करनेवाला नहीं हैं केवल जाननेवाला ही है।

(रागादिरहित शुद्धभावों की संभवताका प्रदर्शन)

पक्के फलह्मि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥१६८॥

जैसे वृक्ष तथा बेलिका फल पक कर गिरजाय वह फिर गुच्छेसे नहीं बंधता उसी तरह जीवमें पुद्गल कर्म भाव रूप पककर झड़ जाय अर्थात् निर्जरा हो गई हो वह कर्म फिर उदय नहीं होता ।

(ज्ञानीके द्रव्यास्रव नहीं होता)

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिवद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥ १६९ ॥

उस पूर्वोक्त ज्ञानीके पहले अज्ञान अवस्थामें बंधे हुए सभी कर्म जीवके रागादिभावोंके हुए विना पृथ्वीके पिंडसमान हैं जैसे मट्टी आदि अन्य पुगद्‌ल स्कंध हैं उसी तरह वे भी हैं और वे कार्माण शरीर के साथ बंधे हुए हैं।

(ज्ञानीके निरास्रवताकी सिद्धि)

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु ॥ १७० ॥

जिस कारण चार प्रकारके जो पूर्व कहे गये मिथ्यात्व अविरमण कषाय योग आस्रव हैं वे दर्शनज्ञानगुणोंकर समय समय अनेक भेद लिये कर्मोंको बांधते हैं इस कारण ज्ञानी तो अबंधरूप ही है।

(ज्ञान गुणकी क्षायोपशमिक जघन्य परिणति बंधका कारण है)

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

जिसकारण ज्ञान गुण फिर भी जघन्य ज्ञान गुणसे अन्यपनेरूप परिणमता है, इसी कारण वह ज्ञानगुण कर्मका बंध करने वाला कहा गया है।

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥

दर्शनज्ञानचारित्र जिसका कारण जघन्य भावकर परिणमते हैं इस कारणसे ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोंसे बंधता है !

(सम्यग्दृष्टिके अबन्धकपनेकी सिद्धि ,

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १७३ ॥
संती दु णिरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरुसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स ॥ १७४॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १७५ ॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥चतुष्कं १७६

सम्यग्दृष्टिके सभी पूर्व अज्ञानअवस्थामें बांधे मिथ्यात्वादि आस्रव सत्तारूप मौजूद हैं वे उपयोगके प्रयोग करने रूप जैसे हो वैसे उसके अनुसार कर्म भावकर आगामी बंधको प्राप्त होते हैं और जो पूर्व बंधे प्रत्यय उदय बिना आये भोगने योग्यपनेसे रहित होकर तिष्ठ रहे हैं वे फिर आगामी उसतरह बंधते हैं जैसे ज्ञानावरणादिभावोंकर सात आठ प्रकार फिर भोगने योग्य हो जायँ, और वे पूर्व बंधे प्रत्यय सत्तामें

ऐसे हैं जैसे इसलोक में पुरुषके बालिका स्त्री भोगने योग्य नहीं होती, और वे ही भोगने योग्य होते हैं तब पुरुषको बांधते हैं जैसे वही बाला स्त्री जवान हो जाय तब पुरुषको बांधलेती है अर्थात पुरुष उसके आधीन हो जाता है यही बंधना है। इसी कारणसे सम्यग्दृष्टि अबंधक कहा गया है क्योंकि आस्रवभाव जो राग-द्वेष-मोह उनका अभाव होनेसे मिथ्यात्वआदि प्रत्यय सत्तामें होने पर भी अगामी कर्मबंधके करने वाले नही कहे गये हैं।

(सम्यग्दृष्टि रागादिके अभावसे अबन्धक ही है)

रागो दोहो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदूण पच्चया होंति ॥ १७७॥

हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण वज्झंति ॥ १७८ ॥

राग द्वेष और मोह ये आस्रव सम्यग्दृष्टिके नही हैं इसलिये आस्रवभावके विना द्रव्यप्रत्यय कर्मबंधको कारण नही है मिथ्यात्वआदि चार प्रकारका हेतु आठ प्रकारके कर्मके बंधनेका कारण कहागया है और उन चार प्रकारके हेतुओंको भी जीवके रागादिक भाव कारण हैं सो सम्यग्दृष्टिके उन रागादिक भावोंका अभाव होनेसे कर्मबंध नही है।

(उपर्युक्त कथनका दृष्टांत द्वारा समर्थन)

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥ १७९ ॥

तह गाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पचया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा ॥ १८० ॥

जैसे पुरुषकर ग्रहण किया गया आहार वह उदराग्नि कर युक्त हुआ अनेक प्रकार मांस-रस-रुधिर आदि भावोंरूप परिणमता है उसी तरह ज्ञानीके पूर्व बंधे जो द्रव्यास्रव वे बहुत भेदों को लिये कर्मोंको बांधते हैं। वे जीव शुद्ध नयसे छूट गये हैं अर्थात रागादि अवस्थाको प्राप्त हुए हैं।

आस्रव नामा चौथा अधिकार पूर्ण हुआ ।

—:o❀o:—

अथ संवराधिकारः

(उपयोग-विशुद्ध आत्मा किसी भी कर्मका आस्रव नहीं करता है)

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥ १८१ ॥

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥ १८२॥

एयं तु अविवरीदं णाणं जइया उ होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥

उपयोगमें उपयोग है क्रोध आदिकों में कोई उपयोग नहीं और निश्चय कर क्रोधमें ही क्रोध है उपयोगमें निश्चय कर

क्रोध नहीं है, आठ प्रकारके ज्ञानावरण आदि कर्मों में तथा शरीर आदि नो कर्मोंमें भी उपयोग नहीं है और उपयोगमें कर्म और नो कर्म भी नहीं है, जिस कालमें ऐसा सत्यार्थ ज्ञान जीवके हो जाता है उस कालमें केवल उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के विना अन्य कुछ भी भाव नहीं करता।

(भेद विज्ञानसे शुद्धात्मोपलब्धिकी दृष्टान्तद्वारा सिद्धि)

जह कणयमग्गितवियंपि कणयहावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥१८४॥

एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥

जैसे सुवर्ण अग्निसे तप्त हुआ भी अपने सुवर्णपनेको नहीं छोड़ता, उसीतरह ज्ञानी कर्मोंके उदयसे तप्तायमान हुआ भी ज्ञानी अपने स्वभावको नहीं छोड़ता, इस तरह ज्ञानी जानता है। और अज्ञानी रागको ही आत्मा जानता है, क्योंकि वह अज्ञानी अज्ञानरूप अंधकारसे व्याप्त है इसलिये आत्माके स्वभावको नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है।

(शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिसे ही संवर होता है)

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्धही आत्माको पाता है और अशुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्माको ही पाता है।

(संवर होनेके प्रकारका निरूपण)

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥ १८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥ १८९॥

जो जीव अपने आत्माको अपने कर दो पुण्य-पापरूप शुभा-शुभ योगोंसे रोकके दर्शन ज्ञानमें ठहरा हुआ अन्य वस्तुमें इच्छारहित और सब परिग्रहसे रहित हुआ आत्माकर ही आत्माको ध्याता है तथा कर्म-नोकर्मको नहीं ध्याता और आप चेतनारूप होनेसे उस स्वरूप एकपनेको अनुभवता है विचारता है वह जीव दर्शन ज्ञानमय हुआ, अन्यमय नहीं होके, आत्माको ध्याता हुआ थोड़े समयमें ही कर्मोंकर रहित आत्माको पाता है ।

(संवर होनेके क्रमका निरूपण)

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥ १९०
हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१९१॥

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥ १६२ ॥

पूर्व कहे हुए राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवोंके हेतु सर्वज्ञ देव-ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत भाव और योग, ये चार अध्यवसान कहे हैं सो ज्ञानीके इन हेतुओंका अभाव होनेसे नियम-से आस्रवका निरोध होता है और आस्रव भावके विना (न होने से) कर्मका भी निरोध होता है और कर्मके अभाव से नोकर्मोंका भी निरोध होता है तथा नोकर्मके निरोध होनेसे संसारका निरोध होता है ।

पांचवाँ संवर अधिकार पूर्ण हुआ ।

—:❀०❀:—

अथ निर्जराधिकारः

द्रव्य निर्जरा का स्वरूप

(सम्यग्दृष्टिके भोग निर्जराके निमित्त ही होते हैं)

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १६३॥

समयग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियोंकर चेतन और अन्य अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है उनको भोगता है वह सब ही निर्जराके निमित्त है ।

(भाव निर्जराका स्वरूप)

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१६४॥

परद्रव्यको भोगनेसे सुख अथवा दुःख नियमसे होता है उदयमें आये हुए उस सुख दुःखको अनुभवता है, भोगता है आस्वादता है फिर वह आस्वाद देकर कर्म द्रव्य झड़ जाता है। निर्जरा होने बाद फिर वह कर्म नहीं आता।

(ज्ञानकी सामर्थ्यका निरूपण)

जह विसमुवभुञ्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥१६५॥

जैसे वैद्य विषको भोगता हुआ भी मरणको नही प्राप्त होता, उसी तरह ज्ञानी पुद्गलकर्मके उदयको भोगता है तो भी बंधता नही है।

(वैराग्यकी सामर्थ्यका निरूपण)

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ॥१६६॥

जैसे कोइ पुरुष मदिराको बिना प्रीतिसे पीताहुआ मतवाला नहीं होता, उसी तरह ज्ञानी भी द्रव्यके उपभोगमें तीव्र राग-रहित हुआ कर्मोंसे नही बंधता।

(ज्ञान वैराग्यकी सामर्थ्यका दृष्टान्तद्वारा निरूपण)

सेवंतोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥१६७॥

कोई तो विषयोंको सेवता हुआ भी नही सेवता है ऐसा कहा जाता है, और कोई नही सेवता हुआ भी सेवने वाला

कहा जाता है, जैसे किसी पुरुषके किसी कार्य करनेकी चेष्टा तो है अर्थात् उसने प्रकरणकी सब क्रियाओंको करता है तौ भी किसीका कराया हुआ करता है वह कार्य करनेवाला स्वामी है ऐसा नहीं कहा जाता।

(सम्यग्दृष्टिकी भेदविज्ञान-दशाका सामान्यसे वर्णन)

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

कर्मोंके उदयका रस जिनेश्वर देवने अनेक तरह का कहा है वे कर्मविपाक से हुए भाव मेरा स्वभाव नहीं है मैं तो एक ज्ञायकस्वभावस्वरूप हूँ।

(सम्यग्दृष्टिकी भेदविज्ञानदशाका विशेष रूपसे वर्णन)

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को॥१९९॥

सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि यह राग पुद्गलकर्म है उसके विपाकका उदय है जो मेरे अनुभवमें रागरूप प्रीतिरूप आस्वाद होता है सो यह मेरा भाव नहो है क्योंकि निश्चयकर मैं तो एक ज्ञायकभावस्वरूप हूँ।

(सम्यग्दृष्टिकी परिणतिका चित्रण)

एवं सम्मदिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणतो ॥२००॥

इसतरह सम्यग्दृष्टि अपनेको ज्ञायकस्वभाव जानता है और वस्तुके यथार्थस्वरूपको जानता हुआ कर्मके उदयको कर्मका विपाक जान उसे छोड़ता है ऐसी प्रवृत्ति करता है।

(रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता)

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा-णयं तु सव्वागमधरोवि ॥२०१॥

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥जुम्मं॥२०२॥

निश्चयकरके जिस जीवके रागादिकोंका लेशमात्र (अंशमात्र) भी मौजूद है तो वह जीव सब शास्त्रोंको पढ़ा हुआ होनेपर भी आत्माको नहीं जानता और आत्माको नहीं जानता हुआ परको भी नही जानता है, इसतरह जो जीव और अजीव दोनों पदार्थोंको भी नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि कैसे होसकता है ? नहीं होसकता।

(आत्माके स्वपदका निरूपण)

आदह्मि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलंभंतं सहावेण ॥ २०३॥

आत्मामें परनिमित्तसे हुए अपदरूप द्रव्य भावरूप सभी भावोंको छोड़कर निश्चित स्थिर एक स्वभावकर ही ग्रहण होने योग्य इस प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यमात्र भावको हे भव्य ! तू जैसा है वैसा ग्रहण कर। वही अपना पद है।

(ज्ञान ही आत्माका स्वपद है)

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥ २०४॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, ये ज्ञानके भेद हैं वे ज्ञान पदको ही प्राप्त हैं सभी एक ज्ञान नामसे कहे जाते हैं सो यह शुद्धनयका विषय स्वरूप ज्ञान-सामान्य है इसलिये यही शुद्धनय है जिसको पाकर आत्मा मोक्ष पदको प्राप्त होता है ।

(ज्ञानकी प्राप्तिके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं)

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

हे भव्य जो तू कर्मका सब तरफसे मोक्ष करना चाहता है तो उस निश्चित ज्ञानको ग्रहण कर क्योंकि ज्ञानगुणकर रहित बहुत पुरुष बहुत प्रकारके कर्म करते हैं तौ भी इस ज्ञान-स्वरूप पदको नहीं प्राप्त होते ।

(ज्ञानमें निरत होनेका उपदेश)

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६॥

हे भव्य जीव ! तू इस ज्ञानमें सदाकाल रुचिसे लीन हो और इसमें हमेशा संतुष्ट हो अन्य कोई कल्याणकारी नहीं है और इसी से तृप्त हो अन्य कुछ इच्छा नहीं रहे ऐसा अनुभवकर ऐसा करने से तेरे उत्तम सुख होगा ।

(ज्ञानीके केवल ज्ञानका ही परिग्रह होता है)

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ॥ २०७ ॥

ऐसा कौन ज्ञानी पंडित है ? जो यह पर द्रव्य मेरा द्रव्य है ऐसा कहे, ज्ञानी तो न कहे। कैसा है ज्ञानी पंडित ? अपने आत्माको ही नियमसे अपना परिग्रह जानता हुआ प्रवर्तता है।

(ज्ञानीके परवस्तुका परिग्रह नहीं होता, इस बातका युक्ति द्वारा समर्थन)

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०८ ॥

ज्ञानी ऐसा जानता है कि जो मेरा परद्रव्य परिग्रह हो तो मैं भी अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊं, जिस कारण मैं तो ज्ञाता ही हूं इस कारण मेरे कुछ भी परिग्रह नहीं है।

(ज्ञानीके अपरिग्रहरूप भावकी दृढ़ताका वर्णन)

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु अहव जादु विप्पलयं ।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

ज्ञानी ऐसा विचारता है कि परद्रव्य छिद जाओ अथवा भिद जाओ अथवा कोई ले जाओ या नष्ट हो जाओ जिसतिसतरह से चली जाओ तौ भी निश्चय कर मेरा परद्रव्य परिग्रह नहीं है

(ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नहीं है)

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥२१०॥

ज्ञानी परिग्रहसे रहित है इसलिये परिग्रहकी इच्छासे रहित है ऐसा कहा है इसी कारण धर्मको नहीं चाहता इसीलिये धर्मका परिग्रह नहीं है वह ज्ञानी धर्मका ज्ञायक ही है।

(ज्ञानीके अधर्मका भी परिग्रह नहीं है)

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अहम्मं
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २११॥

ज्ञानी इच्छा रहित है इसलिये परिग्रहरहित कहा है इसीसे अधर्मकी इच्छा नहीं करता. वह ज्ञानी अधर्मका परिग्रह नहीं रखता, इसलिये वह उस अधर्मका ज्ञायक ही है।

(ज्ञानीके भोजनका भी परिग्रह नहीं है)

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

इच्छारहित हो वही परिग्रहरहित है ऐसा कहा है और ज्ञानी भोजनको नहीं इच्छता इसलिये ज्ञानीके भोजनका परिग्रह नहीं है इस कारण वह ज्ञानी अशनका ज्ञायक ही है।

(ज्ञानीके पानका भी परिग्रह नहीं है)

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

इच्छारहित है वह परिग्रहरहित कहा गया है और ज्ञानी जल आदि पीनेकी इच्छा नहीं रखता, इस कारण पानका परिग्रह ज्ञानीके नहीं है इसलिये वह ज्ञानी पानका ज्ञायक ही है।

(ज्ञानी विविध भावोंका ज्ञायक ही है, कर्त्ता या भोक्ता नहीं)

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥ २१४ ॥

इस प्रकारको आदि लेकर अनेक प्रकारके सब भावोंको ज्ञानी नहीं इच्छता। क्योंकि नियमसे आप ायकभाव है इस-लिये सबमें निरालंब है।

(ज्ञानीके त्रिकालवर्ती भोगोंकी भी इच्छा नहीं है)

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५॥

उत्पन्न हुआ वर्तमान कालके उदयका भोग उस ज्ञानीके हमेशा वह वियोगकी बुद्धिकर वर्तता है इसलिये परिग्रह नहीं है और आगामी कालमें होनेवाले उदयकी ज्ञानी वांछा नहीं करता इसलिये परिग्रह नहीं है। तथा अतीतकालका बीत ही चुका सो यह बिना कहा सामर्थ्यसे ही जानना कि इसके परिग्रह नहीं है। गयेहुएकी वांछा ज्ञानीके कैसे हो ?

(ज्ञानी अनागत भोगोंकी इच्छा क्यों नहीं करता ?)

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखइ कयावि ॥२१६॥

जो अनुभव करनेवाला भाव अर्थात् वेदकभाव और जो अनुभव करने योग्य भाव अर्थात् वेद्यभाव इस तरह वेदक और वेद्य ये दोनों भाव आत्माके होते हैं सो क्रमसे होते हैं एक समयमें नहीं होते। ये दोनों ही समय समयमें विनस जाते हैं।

आत्मा दोनों भावोंमें नित्य है इसलिये ज्ञानी आत्मा दोनों भावोंका ज्ञायक (जाननेवाला) ही है इन दोनों भावोंको ज्ञानी कदाचित् भी नहीं चाहता।

[ज्ञानीके संसार और शरीर-विषयक भोगोंमें राग नहीं है]

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥ २१७॥

बंध और उपभोगके निमित्त जो अध्यवसानके उदय हैं वे संसारविषयक और देहके विषय हैं उनमें ज्ञानीके राग नहीं उपजता।

[ज्ञानी किसी भी परद्रव्यमें लिप्त नहीं होता, पर अज्ञानी लिप्त होता है, इस बातका दृष्टान्तद्वारा वर्णन]

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२१९॥

ज्ञानी सब द्रव्योंमें रागका छोड़नेवाला है वह कर्मके मध्यमें प्राप्त हो रहा है तौभी कर्मरूपी रजसे नहीं लिप्त होता, जैसे कीचड़में पड़ा हुआ सोना, और अज्ञानी सब द्रव्योंमें रागी है इसलिये कर्मके मध्यको प्राप्त हुआ, कर्मरजकर लिप्त होता है जैसे कीचमें पड़ा हुआ लोहा अर्थात् जैसे लोहेके काई लग जाती है वैसे।

[ज्ञानीके शंख-दृष्टान्त द्वाराबंधाभावका निरूपण]

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काउं ॥२२०॥

तह णाणिस्स विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्सवि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥ २२१ ॥

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २२२ ॥

जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तय पजहिऊण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

जैसे शंख अनेक प्रकारके सचित्त अचित्त मिश्रित द्रव्योंको भक्षण करता है तौभी उस शंखका सपेदपना काला करनेको नहीं समर्थ हो सकते उसी तरह अनेक प्रकारके सचित्तअचित्त मिश्रित द्रव्योंको भोगनेवाले ज्ञानीके ज्ञानके भी अज्ञानपना करनेकी किसीकी भी सामर्थ्य नहीं है। और जैसे वही शंख जिस समय अपने उस श्वेत स्वभावको छोड़कर कृष्णभावको प्राप्त होता है, तब सफेदपनको छोड़ देता है उसी तरह ज्ञानी भी निश्चयकर जब अपने उस ज्ञानस्वभावको छोड़कर अज्ञानकर परिणमता है उस समय अज्ञानपनेको प्राप्त होता है।

[सरागभावसे बन्ध और वीतरागभावसे मोक्ष होता है इस बातका दृष्टान्त द्वारा समर्थन]

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२४॥

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥

जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥

एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥

जैसे इस लोकमें कोई पुरुष आजीविकाके लिये राजाको सेवे तो वह राजा भी उसको सुखके उपजानेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको देता है इसी तरह जीवात्मा पुरुष सुखके लिये कर्मरूपी रजको सेवन करता है तो वह कर्म भी उसे सुखके उपजानेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको देता है और जैसे वही पुरुष आजीविकाके लिये राजाको नहीं सेवे तो वह राजा भी उसे सुखके उपजानेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको नहीं देता है इसी तरह सम्यग्दृष्टि विषयोंके लिये कर्मरूपी रजको नहीं सेवता, तो वह कर्म भी उसे सुखके उपजानेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको नहीं देता।

(सम्यग्दृष्टि जीव सदा निःशंक और निर्भय रहता है)

सम्मदिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं इसीलिये निर्भय हैं क्योंकि सप्तभयकर रहित हैं इसीलिये निःशंक हैं।

(निःशंक जीव ही सम्यग्दृष्टि है)

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २२६ ॥

जो आत्मा कर्मबंधके कारण मोहके करनेवाले मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादोंको निःशंक हुआ काटता है वह आत्मा निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

(सम्यग्दृष्टि जीव सर्वत्र आकांक्षा-रहित है)

जो दुण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

जो आत्मा कर्मोंके फलोंमें तथा सब धर्मोंमें वांछा नहीं करता, वह आत्मा निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना।

(जुगुप्सा-रहित जीव ही सम्यग्दृष्टि है)

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

जो जीव सभी वस्तुके धर्मोंमें ग्लानि नहीं करता वह जीव

निश्चयकर विचिकित्सा दोषरहित सम्यग्दृष्टि जानना।

(अमूढ़दृष्टि जीव ही सम्यग्दृष्टि है)

जो हवई असम्मूडो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

जो जीव सब भावोंमें मूढ़ नहीं होता यथार्थ दृष्टिरखता है वह ज्ञानी जीव निश्चयकर अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना।

(उपगूहन धर्मधारी जीव ही सम्यग्दृष्टि है)

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३३॥

जो जीव सिद्धोंकी भक्तिकर सहित हो और अन्य वस्तुके सब धर्मोंका गोपनेवाला हो वह उपगूहनधारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

(स्व-धर्ममें स्थिर करनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि है)

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

जो जीव उन्मार्ग चलते हुए अपने आत्माको भी मार्गमें स्थापन करता है वह ज्ञानी स्थितिकरण गुण सहित सम्यग्दृष्टि जानना।

(वात्सल्य-धारक जीव ही सम्यग्दृष्टि है)

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

जो जीव मोक्षमार्गमें स्थित आचार्य उपाध्याय साधुपद सहित आत्मामें अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें वात्सल्यभाव करता है वह वत्सल भावकर सहित सम्यग्दृष्टि जानना।

(ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि है)

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३६ ॥

जो जीव विद्यारूपी रथमें चढ़ा मनरूपी रथके चलनेके मार्गमें भ्रमण करता है वह ज्ञानी जिनेश्वरके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना।

सप्तमो निर्जराधिकारः समाप्तः

—०※०—

अथ बंधाधिकारः

(बंधके कारणका दृष्टान्तपूर्वक निरूपण)

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २३७ ॥

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २३८॥

उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥

जो सो दु रोहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥ २४१ ॥

प्रगटकर कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष अपनी देहमें तैलादि लगाकर बहुत धूलीवाली जगहमें स्थित होकर हथियारोंसे व्यायाम करता है वहां ताड़वृक्ष, केलेका वृक्ष तथा बांसके पिंड इत्यादिकोंको छेदता है भेदता है और सचित्त व अचित्त द्रव्योंका उपघात करता है। इस प्रकार नाना प्रकारके करणोंकर उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचारो कि रजका बंध किस कारणसे हुआ है? जो उस मनुष्यमें तेल आदिका सचिक्कण भाव है उससे उसके रजका बंध लगता है यह निश्चयसे जानना। शेष कायकी चेष्टाओंसे रजका बंध नहीं है इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें वर्तमान है वह अपने उपयोगमें रागादि भावोंको करता हुआ कर्मरूप रजकर लिप्त होता है बंधता है।

(रागके अभावसे ही सम्यग्दृष्टि जीव कर्म-बन्धसे अलिप्त रहता है)

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२४३॥

उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥२४४॥

जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहि सेसाहिं ॥ २४५ ॥

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥ २४६ ॥

जैसे फिर वोही मनुष्य तैलादिक सब चिकनी वस्तुको दूर करके बहुत रजवाले स्थानमें शस्त्रोंका अभ्यास करता है, ताल-वृक्षकी जड़को केलेके वृक्षको तथा बांसके बिड़ेको छेदन भेदन करता है और सचित्त अचित्त द्रव्योंका उपघात करता है। वहां उपघात करनेवाले उसके नाना प्रकारके करणोंकर निश्चयसे जानना कि रजका बंध किस कारणसे नहीं होता ? उस पुरुषके जो चिक्कनता है उससे उसके रजका बंधना निश्चयसे जानना चाहिये, शेष कायकी चेष्टाओंसे रजका बध नहीं होता । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि बहुत तरहके योगोंमें वर्तमान है वह उपयोगमें रागादिकोंको नहीं करता इसलिये कर्मरजकर नहीं लिप्त होता ।

(ज्ञानी और अज्ञानीके भावोंका अन्तर)

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

जो पुरुष ऐसा मानता है कि मैं पर जीवको मारता हूँ और

परजीवोंकर मैं मारा जाता हूं पर मुझे मारते हैं वह पुरुष मोही है, अज्ञानी है और इससे विपरीत ज्ञानी है ऐसा नहीं मानता।

(मैं परको मारता हूँ, ऐसा अध्यवसाय ही अज्ञान है)

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥ २४९॥

जीवोंके मरण है वह आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा जिनेश्वर देवने कहा है सो हे भाई !तू मानता है कि मैं परजीवको मारता हूं यह अज्ञान है क्योंकि उन परजीवोंका आयुकर्म तू नहीं हरता, तो तूने उनका मरण कैसे किया ? तथा जीवोंका मरण आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा जिनेश्वरदेवने कहा है परन्तु हे भाई तू ऐसा मानता है कि मैं परजीवोंकर मारा जाता हूं यह मानना तेरा अज्ञान है क्योंकि परजीव तेरा आयुकर्म नहीं हरते इसलिये उन्होंने तेरा मरण कैसे किया।

(मैं परको जिलाता हूं, ऐसा अध्यवसाय भी अज्ञान है)

जो मण्णदि जीवेमिय जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५०॥

जो जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीवोंको जीवित करता हूँ और परजीव भी मुझे जीवित करते हैं वह मूढ़ (मोह) है, अज्ञानी है परन्तु ज्ञानी इससे विपरीत है ऐसा नहीं मानता इससे उलटा मानता है।

(परको जिलाने मारनेकी कल्पना करना अज्ञान है)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥

जीव अपनी आयुके उदयसे जीता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं सो हे भाई ! तू परजीवको आयुकर्म नहीं देता तो तूने उन परजीवोंका जीवित कैसे किया ? और जीव अपने आयुकर्मके उदयसे जीता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं सो हे भाई परजीव तुझे आयुकर्म नहीं देता, तो उन्होंने तेरा जीवन कैसे किया ?

(परको सुख-दुख देनेकी कल्पना करना भी अज्ञान है)

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

जो जीव ऐसा मानता है कि मैं अपनेकर परजीवोंको दुःखी सुखी करता हूं वह जीव मोही है, अज्ञानी है, और ज्ञानी इससे उलटा मानता है ।

[सुख-दुखका कारण कर्म है, अन्य कोई नहीं]

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ॥२५४

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंदि जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥२५५

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥

सब जीव अपने कर्मके उदयसे दुःखी सुखी होते हैं जो ऐसा है तो हे भाई ! तू उन जीवोंको कर्म तो नहीं देता परन्तु तूने वे दुःखी सुखी कैसे किये ? सब जीव अपने कर्मके उदयसे दुःखी सुखी होते हैं जो ऐसे हैं तो हे भाई वे जीव तुझको कर्म तो नहीं देते उन्होंने दुःखी, तू कैसे किया, तथा सभी जीव अपने कर्मके उदयसे दुःखी सुखी जो होते हैं सो हे भाई ऐसा है तो वे जीव कर्मोंको तुझे दे नहीं सकते तो उन्होंने, तू सुखी कैसे किया ।

(परको सुख-दुखका दाता माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है)

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब कर्मके उदयकर होता है इसलिये तेरा "मैं मारा मैं दुःखी किया गया" ऐसा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? मिथ्या ही है । तथा जो नहीं मरता और न दुःखी होता, वह भी कर्मके उदयकर ही होता है इसलिये तेरा यह अभिप्राय है "कि मैं मारा नहीं गया और न दुःखी किया" ऐसा भी अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? मिथ्या ही है ।

(परको सुख-दुख देनेकी कल्पना बुद्धि ही कर्मका बन्ध कराती है)

एसा दु जा मई दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुह बंधए कम्मं ॥ २५९॥

हे आत्मन् तेरी जो यह बुद्धि है कि मैं जीवांको सुखी दुःखी करता हूं, यह तेरी मूढ़बुद्धि मोहस्वरूप बुद्धि ही शुभ अशुभ कर्मोंको बांधती है ।

(उपर्युक्त कथनका स्पष्टीकरण)

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
त पावबधग वा पुण्णस्स व वंधगं होदि ॥ २६०॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
त पावबधग वा पुण्णस्स व बधग होदि ॥ २६१ ॥

हे आत्मन् तेरा जो यह अभिप्राय हैं कि मैं जीवोंको दुःखी सुखी करता हूं वह ही अभिप्राय पापका वंधक है तथा पुण्यका बंधक है । अथवा मैं जीवोंको मारता हूं अथवा जिवाता हूँ जो ऐसा तेरा अभिप्राय है वह भी पापका बंधक है अथवा पुण्यका बंधक है ।

(अध्यवसाय ही कर्म-बन्धका कारण है)

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो वंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

निश्चय नयका यह पक्ष है कि जीवोंको मारो अथवा मत

मारो, यह जीवोंके कर्मबंध अध्यवसायकर ही होता है यह ही बंधका संक्षेप है।

(शुभ-अशुभ अध्यवसाय पुण्य-पाप बन्धका कारण है)

एवमलिये अदत्ते अवंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पावं ॥२६३॥

तहवि य सच्चे दत्ते वंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पुण्णं ॥२६४॥

पहले हिंसाका अध्यवसाय कहा था उसी तरह असत्य चोरी आदिसे विना दिये परधनका लेना, स्त्रीका संसर्ग, धन-धान्यादिक इनमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे तो पापका बंध होता है और उसी तरह सत्यमें दिया हुआ लेनेमें ब्रह्मचर्यमें और अपरिग्रहमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यका बंध होता है।

(अध्यवसाय ही बन्धका कारण है, पर-पदार्थ नहीं)

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु वंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥२६५॥

जीवोंके जो अध्यवसान है वह वस्तुको अवलंबन करके होता है। तथा वस्तुसे बंध नहीं है, अध्यवसानकर ही बंध है।

(परको सुख-दुख देनेकी बुद्धि ही मिथ्या है)

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

हे भाई तेरी जो ऐसी मूढ़बुद्धि है कि मैं जीवोंको दुःखी सुखी करता हूं बंधाता हूं और छुड़ाता हूँ वह मोहस्वरूप बुद्धि निरर्थक है जिसका विषय सत्यार्थ नहीं है इसलिये निश्चयकर मिथ्या है।

(परको सुख-दुख देनेकी कल्पना करना व्यर्थ है)

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं ॥२६७॥

हे भाई ! जो जीव अध्यवसानके निमित्तसे कर्मसे बंधते हैं और मोक्षमार्गमें तिष्ठे हुए कर्मकर छूटते हैं ऐसा जब है तो तू क्या करेगा ? तेरा तो बांधने छोड़नेका अभिप्राय विफल हुआ।

(रागादिसे मोहित हुआ जीव परद्रव्यको आत्मास्वरूप समझता है)

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥ २६९॥

जीव अध्यवसानकर अपने सब तिर्यंच नारक देव मनुष्य सभी पर्यायोंको करता है और अनेक प्रकारके पुण्य-पापोंको अपने करता है तथा धर्म-अधर्म जीव-अजीव और लोक-अलोक इन सभीको जीव अध्यवसानकर आत्मस्वरूप करता है।

(अध्यवसाय-रहित साधु कर्मसे लिप्त नहीं होता)

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

ये पूर्वोक्त अध्यवसाय तथा इस तरहके अन्य भी अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनिराज अशुभ अथवा शुभ कर्मसे नहीं लिप्त होते ।

(अध्यवसायके पर्यायवाचक नाम)

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धि, व्यवसाय और अध्यवसान और मति,विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ ही हैं नामभेद है इनका अर्थ जुदा नहीं है ।

(व्यवहारनय निश्चयनयके द्वारा प्रतिषिद्ध है)

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

पूर्वकथित रीतिसे अध्यवसानरूप व्यवहारनय है वह निश्चयनयसे निषेधरूप जानो जो मुनिराज निश्चयके आश्रित हैं वे मोक्षको पाते हैं ।

(अभव्य व्रत-शीलादिको पालता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है)

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥

व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप जिनेश्वर देवने कहे हैं उनको

करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है।

(अभव्यके एकादशांगका ज्ञान भी व्यर्थ है)

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

जो अभव्य जीव शास्त्रका पाठ भी पढ़ता है परन्तु मोक्ष-तत्त्वका श्रद्धान नहीं करता, तो ज्ञानका श्रद्धान नहीं करनेवाले उस अभव्यका शास्त्र पढ़ना लाभ नहीं करता।

(अभव्यके धर्मका श्रद्धान भोगके लिए है, कर्मक्षयके लिए नहीं)

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

वह अभव्य जीव धर्मको श्रद्धान करता है प्रतीति करता है रुचि करता है और स्पर्शता है वह संसारभोगके निमित्त जो धर्म है उसीको श्रद्धान आदि करता है परन्तु कर्मक्षय होनेका निमित्तरूप धर्मका श्रद्धान आदि नहीं करता।

(व्यवहार और निश्चयनयसे ज्ञान-दर्शनादिका प्रतिपादन)

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥ २७६॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

आचारांग आदि शास्त्र तो ज्ञान है तथा जीवादि तत्त्व हैं वे

दर्शन जानना और छह कायके जीवोंकी रक्षा चारित्र है इस तरह तो व्यवहारनय कहता है और निश्चयकर मेरा आत्मा ही ज्ञान है मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है मेरा आत्मा ही संवर और योग (समाधि-ध्यान) है। ऐसे निश्चयनय कहता है।

(ज्ञानीके रागादिकी परिणति अन्य-निमित्तक है, इस बातका दृष्टान्तद्वारा स्पष्टीकरण)

जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दुसो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८॥

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥

जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह ललाई आदि रंगस्वरूप आप तो नहीं परिणमती परन्तु वह दूसरे लाल काले आदि द्रव्योंसे ललाई आदि रंगस्वरूप परणमती है इसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है वह रागादि भावोंसे आप तो नहीं परिणमता, परन्तु अन्य रागादि दोषोंसे रागादिरूप किया जाता है।

(ज्ञानी रागादि भावोंका कर्त्ता नहीं है)

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥ २८०॥

ज्ञानी आप ही अपने राग-द्वेष-मोह तथा कषायभाव नहीं करता, इस कारण वह ज्ञानी उन भावोंका करनेवाला (कर्ता) नहीं है।

(अज्ञानी ही पुनः पुनः रागादिको बांधता है)

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि ॥ २८१ ॥

राग-द्वेष और कषायकर्म इनके होने पर जो भाव होते हैं उनकर परिणमता हुआ अज्ञानी रागादिकोंको बार बार बांधता है।

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहि दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥ २८२ ॥

राग द्वेष और कषायकर्मोंके होने पर जो भाव होते हैं उनकर परिणमता हुआ आत्मा रागादिकोंको बांधता है।

(आत्मा रागादिका अकारक है)

अपडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं ।
एएणुवएसेण व अकारओ वण्णिओ चेया ॥ २८३ ॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपचखाणं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥ २८४ ॥
जावं अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होई णायव्वो ॥२८५॥

अप्रतिक्रमण दो प्रकारका जानना, उसी तरह अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका जानना, इस उपदेशकर आत्मा अकारक कहा है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार है एक तो द्रव्यमें दूसरा भावमें

उसी तरह अप्रत्याख्यान भी दो तरहका है एक द्रव्यमें एक भावमें इस उपदेशकर आत्मा अकारक कहा है। जब तक आत्मा द्रव्य और भावमें अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तब तक वह आत्मा कर्ता होता है ऐसा जानना।

(द्रव्य-भावके निमित्त-नैमित्तिकपनेका उदाहरण)

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वई णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥ २८६॥

आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥ २८७ ॥

अधःकर्मको आदि लेकर जो ये पुद्गलद्रव्यके दोष हैं उनको ज्ञानी कैसे करे? क्योंकि ये सदा ही पुद्गलद्रव्यके गुण हैं और यह अधःकर्म व उद्देशिक हैं वे पुद्गलमय द्रव्य हैं उनको यह ज्ञानी जानता है कि जो सदा अचेतन कहे हैं वे मेरे किये कैसे हो सकते हैं!

अष्टमो बंधाधिकारः समाप्तः

—०❀०—

अथ मोक्षाधिकारः

(केवल कर्म-बंधके ज्ञानसे मोक्ष नहीं मिलता)

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयह्मि चिरकालपडिवद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥

जह णवि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुएणवि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८६॥

इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जाणंतोवि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२६०॥

अहो देखो जैसे कोई पुरुष बंधनमें बहुत कालका बंधाहुआ उस बंधनके तीव्रमंद (गाढे ढीले) स्वभावको और कालको जानता है कि इतने कालका बंध है। जो उस बंधनको आप काटता नहीं है तो उस बंधनके वशहुआ ही रहता है उसकर छूटता नहीं है ऐसा वह पुरुष बहुत कालमें भी उस बंधसे छूटनेरूप मोक्षको नहीं पाता, उसी प्रकार जो पुरुष कर्मके बंधनोंके प्रदेश स्थिति प्रकृति और अनुभाग ये भेद हैं ऐसा जानता है तो भी वह कर्मसे नहीं छूटता, जो आप रागादिकको दूर कर शुद्ध हो, वही छूटता है।

(कर्मबंधकी चिन्तासे भी मोक्ष नहीं मिलता)

जह बंधे चिंतंतो बंधण द्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं ॥२६१॥

जैसे कोई बंधनकर बंधा हुआ पुरुष उन बंधोंको विचारता हुआ (उसका सोच करता हुआ) भी मोक्षको नहीं पाता, उसी तरह कर्मबंधकी चिन्ता करता हुआ जीव भी मोक्षको नहीं पाता।

(किन्तु कर्म-बंधके छेदनेसे ही मोक्ष मिलता है)

जह बंधे छित्तूण य बंधणवद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥

जैसे बंधनसे बंधा पुरुष बंधनको छेदकर मोक्षको पाता है उसीतरह कर्मके बंधनको छेदकर जीव मोक्षको पाता है।

(कर्म-बन्धसे विरक्त पुरुष ही मोक्ष पाता है)

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥२९३॥

बंधोंका स्वभाव और आत्माका स्वभाव जानकर जो पुरुष बंधोंमें विरक्त होता है वह पुरुष कर्मोंका मोक्ष करता है।

(प्रज्ञारूप छैनीके द्वारा जीव और कर्म-बन्धको पृथक् करनेका उपदेश)

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

जीव और बंध ये दोनों निश्चित अपने २ लक्षणोंकर बुद्धि-रूपी छैनीसे इसतरह छेदने चाहिये कि जिस तरह छेदेहुए नानापनको प्राप्त हो जायं अर्थात् जुदे जुदे हो जायं।

(शुद्ध आत्माके ग्रहण करनेका उपदेश)

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएवव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२९५॥

जीव और बंध इन दोनोंको निश्चित अपने २ लक्षणोंकर

इसतरह भिन्न करना कि बंध तो छिदकर भिन्न हो जाय, और आत्मा ग्रहण कियाजाय ।

(प्रज्ञाके द्वारा आत्माके ग्रहण करनेका उपदेश)

कह सो घिप्पइ अप्पा पएणाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पएणाइ विहत्तो तह पएणाएव घित्तव्वो ॥२९६॥

शिष्य पूछता है कि वह शुद्धात्मा कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? आचार्य उत्तर कहते हैं कि वह शुद्धात्मा प्रज्ञाकर ही ग्रहण किया जाता है। जिस तरह पहले प्रज्ञासे भिन्न किया उसीतरह प्रज्ञासे ही ग्रहण करना।

(प्रज्ञाके द्वारा स्व-परके पृथक् पृथक् जाननेका उपदेश)

पएणाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

जो चेतनस्वरूप आत्मा है निश्चयसे वह मैं हूं इसतरह प्रज्ञाकर ग्रहण करने योग्य है और अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं इसप्रकार आत्माको ग्रहण करना (जानना) चाहिये।

(प्रज्ञाके द्वारा शुद्ध आत्माके ग्रहण करनेका विशेष उपदेश)

पएणाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥
पएणाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥युग्मं॥२९९॥

प्रज्ञाकर ऐसे ग्रहण करना कि जो देखनेवाला है वह तो निश्चयसे मैं हूं अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना। तथा प्रज्ञाकर ही ग्रहण करना कि जो जाननेवाला है वह तो निश्चयसे मैं हूं अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना।

(चिन्मय भाव उपादेय और परभाव हेय हैं)

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

ज्ञानी अपने स्वरूपको जान और सभी परके भावोंको जानकर ये मेरे हैं ऐसा बचन कौन बुद्धिमान् कहेगा ? ज्ञानी पंडित तो नहीं कह सकता। कैसा है ज्ञानी ? अपने आत्माको शुद्ध जाननेवाला है।

(अपराधी सशंक रहता है, पर निरपराधी निःशंक विचरता है)

थेयाई अवराहे कुव्वादि जो सो उ संकिदो भमई।
मा वज्झेज्जं केणवि चोरोत्ति जणम्मि वियरंतो ॥३०१॥

जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
णवि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥३०२॥

एवंहि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥३०३॥

जो पुरुष चोरीआदि अपराधोंको करता है वह ऐसी शंकासहित हुआ भ्रमता है कि लोकमें विचरता हुआ मैं चोर ऐसा

मालूम होनेपर किसीसे पकड़ा (बंधा) न जाऊं। जो कोई भी अपराध नहीं करता, वह पुरुष देशमें निशंक भ्रमता है उसको बंधनेकी चिन्ता कभी भी नहीं उपजती (होती) ऐसे मैं जो अपराधसहित हूं तो बंधूगा ऐसी शंकायुक्त आत्मा होता है और जो निरपराध हूं तो मैं निःशंक हूं कि नहीं बंधूगा। ऐसे ज्ञानी विचारता है।

(अपराध क्या वस्तु है ?)

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥

जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥

संसिद्ध राध सिद्ध साधित और आराधित ये शब्द एकार्थ हैं। इसलिये जो आत्मा राधसे रहित हो, वह आत्मा अपराध है और जो आत्मा अपराधी नहीं है वह शंकारहित है और अपनेको मैं हूं ऐसा जानता हुआ आराधनाकर हमेशा वर्तता है।

(विषकुम्भ और अमृतकुम्भका वर्णन)

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥

अपडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदा गरहा सोही अमयकुंभो ॥३०७॥

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा,

गर्हा और शुद्धि इसतरह आठ प्रकार विषकुम्भ है; क्योंकि इसमें कर्तापनकी बुद्धि संभवती है और अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अपरिहार अधारणा अनिवृत्ति अनिंदा अगर्हा और अशुद्धि इसतरह आठ प्रकार अमृतकुंभ हैं क्योंकि, यहां कर्तापनाका निषेध है कुछ भी नहीं करना इसलिये बंधसे रहित हैं।

मोक्षाधिकारः समाप्तः

—★—

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः

(आत्माके अकर्तापनकी दृष्टान्तपूर्वक सिद्धि)

दविपं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहि जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३०८॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥३०९॥

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होइ ॥३१०॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पंजंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥

जो द्रव्य जिन अपने गुणोंकर उपजता है वह उन गुणोंकर

अन्य नहीं जानना उन गुणमय ही है जैसे सुवर्ण अपने कटक कडे आदि पर्यायोंकर लोगमें अन्य नहीं है-कटकादि है वह सुवर्ण ही है उसीतरह द्रव्य जानना। उसीतरह जीव अजीवके जो परिणाम सूत्रमें कहे हैं वे द्रव्य ही हैं। जिसकारण वह आत्मा किसीसे भी नहीं उत्पन्न हुआ है इसमे किसीका किया-हुआ कार्य नहीं है और किसी अन्यको भी उत्पन्न नहीं करता, इसलिये वह किसीका कारण भी नहीं है। क्योंकि कर्मको आश्रयकर तो कर्ता होता है और कर्ताको आश्रयकर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है अन्यतरह कर्ता कर्मकी सिद्धि नहीं देखी जाती।

(कर्म-बन्ध अज्ञानका माहात्म्य है)

चेया उ पयडीयट्ठ उप्पजइ विणस्सइ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥

एवं बंधो उ दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

चेतनेवाला आत्मा तो ज्ञानावरणादि कर्मकी प्रकृतियोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है तथा विनसता है और प्रकृति भी उस चेतनेवाले आत्माके लिये उत्पन्न होती है तथा विनाशको प्राप्त होती है। आत्माके परिणामोंके निमित्तसे उसीतरह परिणमती है। इसतरह दोनों आत्मा और प्रकृतिके परस्पर निमित्तसे बंध होता है और उस बंधकर संसार उत्पन्न होता है।

(आत्मा जब तक रागादि नहीं छोड़ता, तब तक अज्ञानी और असंयमी ही है)

जा एसो पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए ।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठो असंजओ ॥३१४॥

जया विमुंचए चेया कम्मप्फलमणंतयं ।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५॥

यह आत्मा जबतक प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनशना नहीं छोडता तबतक अज्ञानी हुआ मिथ्यादृष्टि असंयमी होता है। और जब आतमा अनंत कर्मफलको छोड़ देता है उस-समय बंधसे रहित हुआ ज्ञाता द्रष्टा संयमी होता है।

(कर्म-फल भोगनेके विषयमें ज्ञानी और अज्ञानी का भेद)

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥३१६॥

अज्ञानी कर्मके फलको प्रकृतिके स्वभावमें तिष्ठा हुआ भोगता है और ज्ञानी उदयमें आये हुए कर्मके फलको जानता है परन्तु भोगता नहीं है।

(अज्ञानी शास्त्राभ्यास करने पर भी नियमसे कर्म-फलका वेदक ही रहता है)

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णाया णिव्विसा हुंति ॥३१७॥

अभव्य अच्छी तरह अभ्यासकर शास्त्रोंको पढ़ता हुआ भी कर्मके उदयस्वभावको नहीं छोड़ता अर्थात् प्रकृति नहीं बदलती जैसे सर्प गुड़सहित दूधको पीते हुए भी निर्विष नहीं होते।

(किन्तु ज्ञानी सदाकाल अवेदक ही रहता है)

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं वहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥३१८॥

ज्ञानी वैराग्यको प्राप्त हुआ कर्मके फलको जानता है कि जो मीठा तथा कड़वा इत्यादि अनेक प्रकार है इस कारण वह भोक्ता नहीं है।

(ज्ञानी कर्मोंका कर्त्ता, भोक्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता ही है)

णवि कुव्वइ णवि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३१९॥

ज्ञानी बहुत प्रकारके कर्मोंको न तो कर्ता है और न भोगता है परन्तु कर्मके बंधको और कर्मके फल पुण्य-पापोंको जानता ही है।

(उपर्युक्त कथनका दृष्टान्तद्वारा समर्थन)

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३२०॥

जैसे नेत्र है वह देखने योग्य पदार्थको देखता ही है उनका कर्ता भोक्ता नहीं है उसी तरह ज्ञान भी बंध मोक्ष कर्मका उदय और निर्जराको जानता ही है करनेवाला भोगनेवाला नहीं है।

(ईश्वरको जगत्कर्त्ता और आत्माको कर्म-कर्त्ता माननेवालोंमें कोई भेद नहीं है)

लोयस्स कुणइ विहणू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणंपि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥३२१॥

लोगसमणाणमेयं सिद्धंतं जह ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणवि अप्पओ कुणइ ॥३२२॥

एवं ण कोवि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्हंपि ।
णिच्च कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥

देव नारक तिर्यंच मनुष्य प्राणियोंको लोकके तो विष्णु परमात्मा करता हैं ऐसा मंतव्य हैं इसतरह जो यतियोंके भी ऐसा मानना हो कि छह कायके जीवोंको आत्मा करता है तो लोक और यतियोंका एक सिद्धांत ठहरा तो कुछ विशेषता नहीं दीखता । क्योंकि लोकके जैसे विष्णु करता हैं उसतरह श्रमणोंके भी आत्मा करता है इस तरह कर्ताके माननेमें दोनों समान हुए इस तरह लोक और श्रमण इन दोनोंमेंसे कोई भी मोक्ष हुआ नहीं दीखता क्योंकि जो देवमनुष्य-असुरसहित लोकोंको जीवोंको नित्य दोनों ही करते हुए प्रवर्तते है उनके मोक्ष कैसा ।

(परद्रव्यको अपना माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं)

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमिच्चमवि किंचि३२४

जह कोवि णरो जंपइ अह्मं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति ताणि तस्स उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी चिस्संसयं हवइ एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥३२६॥

तह्मा ण मेत्ति णिच्चा दोह्ंवि एयाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥

जिन्होंने पदार्थका स्वरूप नहीं जाना है वे पुरुष व्यवहारके कहे हुए वचनोंको लेकर कहते है कि परद्रव्य मेरा है और जो निश्चयकर पदार्थोंका स्वरूप जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणु-मात्र भी कोई मेरा नहीं है। व्यवहारका कहना ऐसा है कि जैसे कोई पुरुष कहे कि हमारा ग्राम है देश है नगर है और मेरे राजाका देश हैं वहां निश्चयसे विचारा जाय तो वे ग्राम आदिक उसके नही हैं वह आत्मा मोहसे मेरा मेरा ऐसा कहता है। इसी तरह जो ज्ञानी परद्रव्यको परद्रव्य जानता हुआ परद्रव्य मेरा है ऐसा अपनेको परद्रव्यमय करता है वह निःसन्देह मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिये ज्ञानी परद्रव्य मेरा नही है ऐसा जानकर परद्रव्यमें इन लौकिकजन तथा मुनियोंके कर्तापनके व्यापारको जानता हुआ ऐसा जानता है कि ये सम्यग्दर्शनकररहित हैं।

(मिथ्यात्वभाव क्या वस्तु है, इस बातका सयुक्तिक विचार)

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णाणु कारगो पत्तो ॥३२८॥
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥३२९॥

अह जीवो पयडो तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तह्मा दोहि यंकद तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं ॥३३०॥

अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥३३१॥

जीवके जो मिथ्यात्वभाव होता है उसको विचारते हैं कि निश्चयसे यह कौन करता है ? वहां जो मिथ्यात्वनामा मोह-कर्मकी प्रकृति पुद्गलद्रव्य है वह आत्माको मिथ्यादृष्टि करती है ऐसा माना जाय तो सांख्यमतीसे कहते हैं कि अहो सांख्य-मती तेरे मतमें प्रकृति तो अचेतन है वह अचेतन प्रकृति जीवके मिथ्यात्वभावको करनेवाली ठहरी ऐसा बनता नहीं । अथवा ऐसा मानिये कि वह जीव ही पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको करता है तो ऐसा माननेसे पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ जीव मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरा ऐसा भी नहीं बन सकता । अथवा ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको करते हैं तो दोनोंकर किया गया उसका फल दोनों ही भोगें ऐसा ठहरा सो यह भी नहीं बनता । अथवा ऐसा मानिये कि पुद्गलद्रव्यनामा मिथ्यात्वको न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है तो भी पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ सो ऐसा मानना क्या झूठ नहीं है ? इसलिये यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वनामा जीवका जो भाव कर्म है उसका कर्ता तो अज्ञानी जीव है परन्तु इसके निमित्तसे पुद्गलद्रव्यमें मिथ्यात्व-कर्मकी शक्ति उत्पन्न होती है ।

(कर्मको ही सुख-दुःखादिका दाता माननेवाले सांख्यमतानु-यायियोंके प्रति कथंचित् कर्तृत्वकी नय-व्यवस्था)

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥३३२॥

कम्मेहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य ।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तिय किंचि ॥३३४॥
जह्मा कम्मं कुव्वइ कम्म देई हरत्ति जं किंचि ।
तह्मा उ सव्वे जीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥
पुरुसिच्छियाहिलासी इच्छीकम्म च पुरसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥३३६॥

जीव कर्मोंकर अज्ञानी किया जाता है उसी तरह कर्मोंकर ज्ञानी होता है कर्मोंकर सुआया जाता है उसी प्रकार कर्मोंकर ही जगाया जाता है कर्मोंकर सुखी किया जाता है उसी तरह कर्मोंकर दुखी किया जाता है और कर्मोंकर मिथ्यात्वको प्राप्त कराया जाता है तथा असंयमको प्राप्त कराया जाता है कर्मोंकर ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक और तिर्यग्लोकमें भ्रमाया जाता है और कर्मोंसे ही जो कुछ शुभ अशुभ हैं वह किया जाता है। क्योंकि कर्म ही करता है कर्म ही देता है कर्म ही हरता है जो कुछ करता है वह कर्म ही करता है इसलिये सभी जीव अकारक प्राप्त हुए-जीव कर्ता नहीं है। यह आचार्योंकी परिपाटी से आई ऐसी श्रुति है कि पुरुषवेदकर्म तो स्त्रीका अभिलाषी है और स्त्रीवेदनामा कर्म पुरुषको चाहता है।

तह्मा ण कोवि जीवो अवभचारी उ अह्म उवएसे ।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥३३७॥

जह्मा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी।
एएणच्छेण किर भरणइ परघायणामित्ति ॥३३८॥

तह्मा ण कोवि जीवो वधायओ अत्थि अह्म उवदेसे।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्म घाएदि इदि मणियं॥३३९॥

एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥

इसलिये कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है हमारे उपदेशमें तो ऐसा है कि कर्म ही कर्मको चाहता है ऐसा कहा है। जिस कारण दूसरेको मारता है और परकर मारा जाता है वह भी प्रकृति ही है इसी अर्थको लेकर कहते हैं कि यह परघातनामा प्रकृति है इसलिये हमारे उपदेशमें कोई भी जीव उपघात करनेवाला नहीं है क्योंकि कर्म ही कर्मको घातता है ऐसा कहा है। इस तरह जो कोई यति ऐसा सांख्यमतका उपदेश निरूपण करते हैं उनके प्रकृति ही करती है, और आत्मा सब अकारक ही हैं ऐसा हुआ।

अहवा मरणसि मज्झं अप्पा अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई।
एसो मिच्छसहावो तुह्मं एयं मुणंतस्स ॥३४१॥

अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णांव सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥३४२॥

जीवस्स जीवरूवं विच्छरदो जाण लोगमित्तं हि।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणई दव्वं ॥३४३॥

अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थिइत्ति मयं ।
तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥

आचार्य कहते हैं जो, आत्माके कर्तापनेका पक्ष साधनेको तू ऐसा मानेगा कि मेरा आत्मा अपने आत्माको करता है ऐसा कर्तापनका पक्ष मानो तो ऐसा जाननेका तेरा मिथ्यात्वभाव है क्योंकि आत्मा नित्य असंख्यातप्रदेशी सिद्धांतमें कहा है उसमें जो वह हीन अधिक करनेको समर्थ नहीं हो सकते। जीवका जीवरूप विस्तार अपेक्षा निश्चयकर लोकमात्र जानो ऐसा जीवद्रव्य उस परिणामसे क्या हीन तथा अधिक कैसे कर सकता है? अथवा ऐसा मानिए जो ज्ञायक भाव ज्ञानस्वभावकर तिष्ठता है तो उसी हेतुसे ऐसा हुआ कि आत्मा अपने आपको स्वयमेव नहीं करता॥ इसलिए कर्तापन साधनेको विवक्षा पलटकर पक्ष कहा था सो नहीं बना। यदि कर्मका कर्ता कर्मको ही मानें तो स्याद्वादसे विरोध ही आयेगा इसलिए कथंचित् अज्ञान अवस्थामें अपने अज्ञानभावरूप कर्मका कर्ता माननेमें स्याद्वादसे विरोध नहीं है।

(अन्यको कर्ता और अन्यको भोक्ता माननेवाले बौद्धोंका युक्ति पूर्वक निषेध)

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयन्तो ॥३४५॥

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४६॥

जो चेव कुणइ सोचिय ण वेयए जस्स एस सिद्धन्तो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥

अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धन्तो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

जिस कारण जीव नामा पदार्थ कितनी एक पर्यायोंकर तो विनाशको पाता है और कितनी एक पर्यायोंसे नहीं विनष्ट होता इस कारण वह ही करता है अथवा अन्य कर्ता होता है एकांत नहीं स्याद्वाद है। जिस कारण जीव कितनी एक पर्यायोंसे विनसता है और कितनी एक पर्यायोंसे नहीं विनसता, इस कारण वही जीव भोक्ता होता है अथवा अन्य भोगता है वह नहीं भोगता ऐसा एकांत नहीं है स्याद्वाद है। और जिसका ऐसा सिद्धांत (मत) है कि जो जीव करता है वह नहीं भोगता अन्य ही भोगनेवाला होता है वह जीव मिथ्यादृष्टि जानना अरहंतके मतका नहीं है। तथा जिसका ऐसा सिद्धांत है कि अन्य कोई करता है और दूसरा कोई भोगता है वह जीव मिथ्यादृष्टि जानना अरहंतके मतका नहीं है।

(जीव कर्मको करता हुआ भी तन्मय नहीं होता, इस बातका दृष्टान्तपूर्वक निरूपण)

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥३४९॥

जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण, य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥३५०॥

जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥३५१॥

जैसे सुनार आदि कारीगर आभूषणादिक कर्मको करता है परन्तु वह आभूषणादिकोंसे तन्मय नहीं होता उसी तरह जीव भी पुद्गलकर्मको करता है। तो भी उससे तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी हथौड़ा आदि करणोंसे कर्म करता है। परन्तु वह उनसे तन्मय नहीं होता, उसी तरह जीव भी मन, वचन, काय आदि करणोंसे कर्मको करता है तो भी उनसे तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी करणोंको ग्रहण करता है तो भी वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी तरह जीव मन वचन कायरूप करणोंको ग्रहण करता है तो भी उनसे तन्मय नहीं होता।

(जीव कर्म-फलको भोगते हुए भी तन्मय नहीं होता इस बातका दृष्टान्तपूर्वक निरूपण)

जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥३५२॥

एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥

जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥

जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥

जैसे शिल्पी आभूषणादि कर्मोंके फलको भोगता है तौ भी वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी तरह जीव भी सुख दुःख आदि कर्मके फलको भोगता है परन्तु उससे तन्मय नहीं होता। इस तरहसे तो व्यवहारका मत संक्षेपसे कहने योग्य है और जो निश्चयके वचन हैं वे अपने परिणामोंसे किये होते हैं उनको सुनो। जैसे शिल्पी अपने परिणामस्वरूप चेष्टारूप कर्मको करता है परन्तु वह उस चेष्टासे जुदा नहीं होता है तन्मय है उसी तरह जीव भी अपने परिणामस्वरूप चेष्टारूप कर्मको करता है उस चेष्टाकर्मसे अन्य नहीं है तन्मय है। जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरंतर दुःखी होता है उस दुःखसे जुदा नहीं है तन्मय है उसी तरह जीव भी चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है।

(निश्चयनयसे जीवके ज्ञाता, दृष्टादि स्वरूपका दृष्टान्त-
पूर्वक वर्णन)

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥३५८॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥

जैसे सफेदी करनेवाली कलई अथवा खड़िया मिट्टी चूना आदि सफेद वस्तु वह अन्य जो भींत आदि वस्तु उसको सफेद करनेवाली है इससे खड़िया नहीं है वह तो भींतके बाहर भागमें रहती है भींतरूप नहीं होती खड़िया तो आप खड़ियारूप ही है उसी तरह जाननेवाला है वह परद्रव्यको जाननेवाला है इस कारणसे ज्ञायक नहीं है आप ही ज्ञायक है जैसे खड़िया० उसी तरह देखनेवाला परद्रव्यको देखनेवाला होनेसे दर्शक नहीं है आप ही देखनेवाला है। जैसे खड़िया०....उसी तरह संयत परको त्यागनेसे संयत नहीं है आप ही संयत है। जैसे खड़िया०.... उसी तरह श्रद्धान परके श्रद्धानसे श्रद्धान नहीं है आप ही श्रद्धान है।

(व्यवहारनयसे जीवके ज्ञाता दृष्टादिस्वरूपका दृष्टान्तपूर्वक निरूपण)

एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ जीवोवि सयेण भावेण ॥३६२॥

ऐसा दर्शन ज्ञान चारित्रमें निश्चयनयका कहा हुआ वचन है तथा व्यवहारनयके वचन हैं उसे संक्षेपसे कहते हैं उसको सुनो। जैसे खड़िया अपने स्वभावकर भींत आदि परद्रव्योंको

सफेद करती है उसी तरह जाननेवाला भी परद्रव्यको अपने स्वभावकर जानता है।

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण ॥३६३॥

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥३६४॥

एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥३६५॥

जैसे खड़िया० ..उसी तरह ज्ञाता भी अपने स्वभावकर परद्रव्यको देखता है जैसे खड़िया०...उसी तरह ज्ञाता भी अपने स्वभावकर परद्रव्यको त्यागता है जैसे खड़िया०...उसी तरह ज्ञाता भी अपने स्वभावकर परद्रव्यका श्रद्धान करता है इस तरह जो दर्शनज्ञानचारित्रमें व्यवहारका विशेषकर निश्चय कहा है इसी तरह अन्य पर्यायोंमें भी जानना चाहिये।

(राग, द्वेष, मोह जीवके ही अज्ञानरूप परिणाम हैं और ये ही दर्शन, ज्ञान, चारित्रका घात करते हैं)

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥३६७॥

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥

दर्शन ज्ञान चारित्र हैं वे अचेतन विषयोंमें तो कुछ भी नहीं हैं इसलिये उन विषयोंमें आत्मा क्या घात करे ? घातनेको कुछ भी नहीं । दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कर्ममें कुछ भी नहीं हैं । इसलिये उस कर्ममें आत्मा क्या घात करे ? कुछ भी घातनेको नहीं, दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कायमें कुछ भी नहीं हैं इसलिये उन कायोंमें आत्मा क्या घाते ? कुछ भी घातनेको नहीं ।

णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स ।
णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोऽवि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥

जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तह्मा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥

रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥

घात ज्ञानका दर्शनका तथा चरित्रका कहा है वहां पुद्गल द्रव्यका तो कुछ भी घात नहीं कहा । जो कुछ जीवके गुण हैं वे निश्चयकर परद्रव्योंमें नहीं है इसलिये सम्यग्दृष्टिके विषयोंमें राग ही नहीं है । राग-द्वेष-मोह ये सब जीवके ही एक (अभेद) रूप परिणाम हैं इसीकारण रागादिक शब्दादिकोंमें नहीं है ।

(सर्व-द्रव्य अपने-अपने स्वभावसे उत्पन्न होते हैं)

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्यद्रव्यकर अन्यद्रव्यके गुणका उत्पाद नहीं किया जा सकता इसलिये यह सिद्धांत है कि सभी द्रव्य अपने अपने स्वभावसे उपजते हैं।

अज्ञानी आत्माही रूप, रसादिको स्वयं ग्रहण कर और उन्हें भला बुरा मानकर रागी, द्वेषी हो उपशम भावको प्राप्त नहीं होता है, इस बातका विस्तृत विवेचन)

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३७३

पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुमं भणिओ किंचिवि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥

असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥३७५॥

बहुत प्रकारके निंदा और स्तुतिके वचन हैं उनरूप पुद्गल परिणमते हैं उनको सुनकर यह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मुझको कहा है इसलिए ऐसा मान रोस (गुस्सा) करता है और संतुष्ट होता है। शब्दरूप परिणत हुआ पुदगलद्रव्य है सो यह पुदगलद्रव्य गुण है, अन्य है, इसलिए हे अज्ञानी जीव तुझको तो कुछ भी नहीं कहा, तू अज्ञानी हुआ क्यों रोस करता है ? अशुभ अथवा शुभ शब्द तुझको ऐसा नहीं कहता कि मुझको सुन और श्रोत्र इन्द्रियके विषयमें आये हुए शब्द-के ग्रहण करनेको वह आत्मा भी अपने स्वरूपको छोड़ नहीं प्राप्त होता।

असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव ।
णय एइ विणिग्गहिउ' चक्खुविसयमागयं रूवं ॥३७४॥

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति मो चेव ।
णय एइ विणिग्गहिउ' घाणविसयमागयं गंधं ॥३७७॥

असुहो सुहो व रसो ण त भणइ रसय मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउ' रसणविसयमागयं तु रसं ॥३७८॥

अशुभ अथवा शुभरूप तुमको ऐसा नहीं कहता कि तू मुझको देख और चक्षु इन्द्रियके विषय में आये हुए रूपके ग्रहण करनेको वह आत्मा भी अपने प्रदेशोंको छोड़ नहीं प्राप्त होता। अशुभ अथवा शुभ गंध तुझको ऐसा नहीं कहता कि तू मुझको सूंघ और घ्राण इन्द्रियके विषयमें आये हुए गंधके ग्रहण करने को वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़ नहीं प्राप्त होता। अशुभ वा शुभ रस तुझको ऐसा नहीं कहता कि मुझको तू आस्वाद कर और रसना इन्द्रियके विषयमें आये रसके ग्रहण करनेको वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़ नहीं प्राप्त होता।

असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउ' कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ वुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउ' बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ वुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउ' बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥३८१॥

एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

अशुभ वा शुभ स्पर्श तुझको ऐसा नहीं कहता कि तू मुझको स्पर्श (छूले) और स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें आये हुए स्पर्शके ग्रहण करनेको वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़ नहीं प्राप्त होता । अशुभ वा शुभ द्रव्यका गुण तुझको ऐसा नहीं कहता कि तू मुझको जान और बुद्धिके विषयमें आये हुए गुणके ग्रहण करनेको वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़कर नहीं प्राप्त होता । अशुभ वा शुभ द्रव्य तुझको ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे जान और बुद्धिके विषयमें आये हुए द्रव्यके ग्रहण करनेको वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़ नहीं प्राप्त होता । यह मूढ जीव ऐसा जानकर भी उपशम भावको नहीं प्राप्त होता और परके ग्रहण करने का मन करता है क्योंकि आप कल्याणरूप बुद्धि जो सम्यग्ज्ञान उसको नहीं प्राप्त हुआ है ।

(प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका स्वरूप)

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिकमणं ॥३८३॥

कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि बज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥३८४॥

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥३८५॥

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥३८६॥

पहले अतीत कालमें किये जो शुभ अशुभ ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार विस्तार विशेषरूप कर्म हैं इनसे जो चेतयिता अपने आत्माको छुड़ाता है वह आत्मा प्रतिक्रमणस्वरूप है और जो आगामी कालमें शुभ तथा अशुभ कर्म जिस भावके होनेपर बंधे उस अपने भावसे जो ज्ञानी छूटे वह आत्मा प्रत्याख्यान-स्वरूप है। और जो वर्तमान कालमें शुभ अशुभ कर्म अनेक प्रकार ज्ञानावरणादि विस्ताररूप विशेषोंको लिए हुए उदय आया है उस दोषको जो ज्ञानी अनुभवता है उसका स्वामिपना कर्ता-पना छोड़ता है वह आत्मा निश्चयसे आलोचना स्वरूप है इस तरह जो आत्मा नित्य प्रत्याख्यान करता है नित्य प्रतिक्रमण करता है नित्य आलोचना करता है वह चेतयिता निश्चयकर चरित्र स्वरूप है।

(कर्म-फलका वेदन करनेवाला जीव कर्मका ही बंध करता है)

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥

वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८८॥

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८९॥

जो आत्मा कर्मके फलको अनुभवता हुआ कर्मफलको

आपरूप ही करता है मानता है वह फिर भी दुःखका बीज ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मको बांधता है। जो कर्मके फल को वेदता हुआ आत्मा उस कर्मफलको ऐसा जाने कि यह मैंने किया है वह फिर भी जो आत्मा कर्मके फलको वेदता हुआ सुखी और दुःखी होता हैं वह चेतियता०···।

(ज्ञान सर्ववस्तुओंसे भिन्न है इस बातका सयुक्तिक विस्तृत विवेचन)

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥ ३९० ॥

सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥

रूवं णाणं ण हवइ जह्मा रूवं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है, जड़ है, इसलिए ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है, ऐसे जिन भगवान जानते हैं कहते हैं। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है, शब्द अन्य है, ऐसा जिनदेव कहते हैं। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है, रूप अन्य है, ऐसा जिनदेव कहते हैं।

वण्णो णाणं ण हवइ जह्मा वण्णो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९३॥

गंधो णाणं ण हवइ जह्मा गंधो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥

ण रसो दु हवदि णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥

वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ नहीं जानता, इसलिए ज्ञान अन्य है वर्ण अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ नहीं जानता, इसलिए ज्ञान अन्य है गंध अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। और रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है रस अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं।

फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥ ३९६॥

कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥

धम्मो णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥

स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ नहीं जानता, इसलिये ज्ञान अन्य है स्पर्श अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ नहीं जानता, इसलिये ज्ञान अन्य है कर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि

धर्म कुछ नहीं जानता, इसलिये ज्ञान अन्य है धर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं।

णाणमधम्मो ण हवइ जह्मा-धम्मो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९९॥
कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्ण णाणं अण्ण काल जिणा विंति ॥४००॥
आयासंपि ण णाणं जह्मा यासं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं यासं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥

अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान अन्य है अधर्म अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान अन्य है काल अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान अन्य है आकाश अन्य है ऐसा जिनदेवने कहा है।

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्मा।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४०२॥
जह्मा जाणइ णिच्च तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्ज अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

उसी प्रकार अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान

अचेतन है इसलिये ज्ञान अन्य है अध्यवसान अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। इसलिये जीव ज्ञायक है वही ज्ञान है क्योंकि निरंतर जानता है और ज्ञान ज्ञायकसे अभिन्न है जुदा नहीं है ऐसा जानना चाहिये और ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है संयम है अंगपूर्वगत सूत्र है और धर्म-अधर्म है तथा दीक्षा भी ज्ञान है ऐसा ज्ञानीजन अंगीकार करते (मानते) हैं।

(अमूर्त्तिक विशुद्ध आत्मा कर्म-नोकर्मरूप मूर्त्तिक आहारको न ग्रहण ही करता है और न छोड़ता ही है)

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ ॥ ४०५ ॥
णवि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परदव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वावि ॥४०६॥
तह्मा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेव विमुंचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥

इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तीक है वह निश्चयकर आहारक नहीं है क्योंकि आहार मूर्तीक है वह आहार तो पुद्गलमय है। जो परद्रव्य है वह ग्रहण भी नहीं किया जा सकता और छोड़ा भी नहीं जासकता वह कोई ऐसाही आत्माका गुण प्रायोगिक तथा वैस्रसिक है। इसलिये जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव अजीव परद्रव्यमेंसे किसीको भी न तो ग्रहण ही करता है और न किसीको छोड़ता है।

(नाना प्रकारके लिंग मोक्षमार्ग नहीं हैं, किन्तु दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है)

पासंडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पययाराणि ।
घित्तु वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥४०८॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंग जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥

पाखंडिलिंग अथवा गृहिलिंग ऐसे बहुत प्रकारके बाह्य लिंग हैं उनको धारण कर अज्ञानी जन ऐसा कहते हैं कि यह लिंग ही मोक्षका मार्ग है, आचार्य कहते हैं कि लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है क्योंकि अर्हंत देव भी देहसे निर्ममत्व हुए लिंगको छोड़कर दर्शनज्ञानचरित्रको ही सेवते हैं।

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

पाखंडी लिंग और गृहस्थलिंग यह मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन-ज्ञानचारित्र हैं वे मोक्षमार्ग हैं ऐसा जिनदेव कहते हैं।
(अतएव बाह्य लिंग छोड़कर सच्चे मोक्षमार्गमें लगना चाहिए)

तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ ॥

जिसकारण द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है इस कारण गृहस्थों कर अथवा गृहत्यागी मुनियोंकर ग्रहण किये गये लिंगोंको छोड़कर अपने आत्माको दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्गमें युक्त करो। यह श्रीगुरुओंका उपदेश है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

हे भव्य तू मोक्षमार्गमें अपने आत्माको स्थापनकर उसीका ध्यानकर उसीको अनुभवगोचर कर और उस आत्मामें ही निरन्तर विहार कर अन्यद्रव्योंमें मत विहारकर।

(बाह्य लिंग ममत्व रखनेवाला समयसारको नहीं जानता)

पाखंडीलिंगेसु अ गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्त तेहिंण णायं समयसारं ॥ ४१३ ॥

जो पुरुष पाखंडीलिंगोंमें अथवा बहुत भेदवाले गृहस्थ-लिंगोंमें ममता करते हैं अर्थात् हमको ये ही मोक्षके देनेवाले हैं ऐसा मानते हैं, उन पुरुषोंने समयसारको नहीं जाना।

(निश्चय और व्यवहारनयसे मोक्षमार्ग की व्यवस्था)

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

व्यवहारनय तो मुनि श्रावकके भेद से दोनोंही प्रकारके लिंगोंको मोक्षके मार्ग कहता है और निश्चयनय सभी लोगों को मोक्षमार्गमें इष्ट नहीं करता।

(समयसारके जाननेका फल)

जो समयपाहुडमिणं पडिणं अत्थतच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥ ४१५ ॥

जो चेतयिता पुरुष-भव्यजीव इस समय प्राभृतको पढ़कर अर्थसे और तत्वसे जानकर इसके अर्थमें ठहरेगा वह उत्तम सुखस्वरूप होगा।

सर्वविशुद्धज्ञानअधिकारः समाप्तः